स्वप्न-लोक

श्री ललितकुमार बन्द्योपाध्याय, विद्यारत्न,
एम० ए० प्रणीत

अनु०
पं० ठाकुरदत्त मिश्र

"परिहास बिजल्पितं सखे
परमार्थेन न गृह्यताम् वचः।"

प्रथम संस्करण २०००]

[मूल्य १।)

प्रकाशक—
साहित्य-रत्नाकर
प्रयाग ।

मुद्रक—
सिटी प्रेस, प्रयाग ।

निवेदन

'स्वप्न-लोक' प्रो० ललित कुमार वन्द्योपाध्याय की उच्च कोटि की व्यंग और परिहासपूर्ण रचनाओं का अनुपम संकलन है। कौन ऐसा पाठक होगा जिसके हृदय में इन रचनाओं को पढ़ते ही अपूर्व आह्लाद न हो, व्यंगों की चोट से गुदगुदी न हो उठे। ऐसे प्रतिभाशाली उच्च कोटि के लेखकों की संख्या भारतीय भाषाओं में उंगलियों पर गिनने योग्य है। हमें एक इतने प्रतिभासम्पन्न विद्वान लेखक की इतनी उत्कृष्ट रचना प्रकाशित करते समय बड़ा हर्ष हो रहा है। हमें पूर्ण विश्वास है कि पाठक इस पुस्तक की एक प्रति किसी भी मूल्य पर खरीद कर घाटे में न रहेंगे और अधिक से अधिक परिताप, मानसिक चिन्ता वा अवकाश के समय मनोरंजन के लिए इस संकलन की रचनाओं का रसास्वादन कर अपूर्व आनन्द का अनुभव करेंगे।

प्रकाशक—

" A jest's prosperity lies in the year
Of him that hears it, never in the tongue
Of him that makes it ; then, if sickly ears,
Deafed with the clamours of their own
dear groans,
Will hear your idle scorns, continue them,

....

But if they will not, throw away that spirit."

Shakespeare:—Love's Labour's Lost.

विषय-सूची

आलोचना

"This nicely printed volume contains a few essays which are serious, others which are serio-comic, others again which are frankly humorous; and social skits, apopthegms in the manner of Rochefoucauld, satirical discourses on the methods of philological and scientific research have been thrown into the mixture to make the whole a curious but delightful literary olla padrida, which is just the thing to look for when one has to while away an idle hour whether alone or in company............ The first essay on 'The Bullock-Cart' seems to us to be the best of the whole collection and recalls in its finest passages the writings of Charles Lamb and Oliver Wendell Holmes..............To Professor Banerjee belongs the credit of showing how subjects like the history of English Literature and Philology can easily lend themselves to comic treatment and be made to yield mirth galore.

One is however apt to rise from their perusal 'with laughter holding both his sides,' but with the question on his lips—Cui Bono? This question has been answered in anticipation by the author who in his title-page approvingly quotes the Sanskrit Poet who says that witty sayings should not be taken too seriously. On the whole the book deserves a place all by itself in a corner of our book-shelves."—

Modern Review :—March, 1911

स्वप्न-लोक

१—बैलगाड़ी

गर्मी की छुट्टी थी। गाँव में आकर देखा कि उसके पास से रेल की सड़क निकल रही है। छोटी-छोटी मालगाड़ियाँ रेल का माल-असबाब और चीज़वस्तु गिरा रही हैं। गाँव के छोटे-बड़े नीच-ऊँच और स्त्री-पुरुष सभी प्रसन्न हैं, सभी के हृदय में उत्साह है। लोग सोच रहे हैं कि परदेस जाने में अब सुविधा होगी, छः महीने की राह छः दिन में कट जायगी। बहुतों ने तो बड़े उत्साह के साथ मुझसे कह डाला कि इस वर्ष तुम्हें जो कष्ट मिला है, वह आगामी वर्ष न मिलेगा। अब बैलगाड़ी की दुर्दशा भोगने की ज़रूरत नहीं, रेलगाड़ी पर बैठकर एकदम से अपने गाँव के किनारे पर ही आकर उतरोगे।

इस बात से मुझे प्रसन्नता न होकर न जाने कैसा दुख-सा हुआ! जी न जाने कैसे छन से होगया! मन में आया कि हाय, विलायती सभ्यता की बदौलत हमारे देश की प्राचीन प्रथाएँ एक एक करके लुप्त हुई जा रही हैं। सती-दाह और बहुविवाह उठ चुका है, परदाप्रथा, जाति-पांति, और संयुक्त परिवार की प्रथा भी बराबर उठती ही जा रही है, हमारे सनातन चकमक पत्थर

का स्थान दियासलाई रूपी विलायती अग्नि ने दखल कर लिया है और नवाबी अमल की खुशबूदार तम्बाकू और गुड़गुड़ी छोड़-कर भारतवासी अमरीकन चुरट फूँक रहे हैं और जान पड़ता है कि अब दैव दुर्विपाक से हमारे सनातन ऋषियों की तैयार की हुई अपूर्व सवारी बैलगाड़ी भी विलय को प्राप्त होना चाहती है। हाय! न जाने किस अशुभ मुहूर्त में पलासी के मैदान में उस अद्भुत समर का अभिनय हुआ था।

वास्तव में बैलगाड़ी मानो हमारे भारत की बहुत ही अन्तरङ्ग है, आत्मीय से परमात्मीय है। हमारे शास्त्र में लिखा है कि "यादृशी देवता तस्यास्तादृगभूषणवाहनम्" अर्थात् देवता के अनुकूल ही उसके भूषण और वाहन भी होते हैं। बात बड़ी है। गम्भीर शब्दकारी हाथी माँस के लोथड़े जमींदार श्रेणी का उपयुक्त वाहन है। जहाँ वह अपने विशाल शरीर का भार लेकर मन्थरगति से चलता है, वहीं उसके उक्त श्रेणी के सवार भी अपनी मोटी तोंद लेकर जड़भरत से विराजमान रहते हैं। मनुष्य के कन्धों पर अतिवाहित शिविका सुभगपुरुष के हृदय में निवास करनेवाली कुलकामिनी का उपयुक्त वाहन है। शिविका के आवृतद्वार के ही समान व्रीड़ा से सङ्कुचित होकर कुलललना भी अवगुण्ठन से अपना कमल-मुख आच्छादित कर रखती है। अस्थि-पंजर मात्र शेष रह गया है जिसके एवम्भूत अश्विनीकुमार युगल (घोड़े की जोड़ी) से जुती हुई पालकी गाड़ी कलकत्ते के कर्मक्लान्त केरानी (क्लर्क) कुल का

उपयुक्त वाहन है। अपनी घड़घड़ाहट से कान में ज्वाला उत्पन्न करनेवाला इक्का कष्ट सहने में निपुण पच्छाहियों का उपयुक्त वाहन है। इक्का जहाँ आरोही के लिए थोड़ा ही सा स्थान रखता है, वहीं ये पच्छाहीं थोड़े में सन्तुष्ट होनेवाले भी हैं। जिसके चक्के अनवरत घूमते रहते हैं, इस तरह की दो पहिये कि पैरगाड़ी अपना भार स्वयं वहन करने में समर्थ, हाथ-पैर से दुरुस्त, गर्म ख़ूनवाले नई रोशनीवालों का उपयुक्त वाहन है। रेलगाड़ी, ट्रामगाड़ी आदि जो भाप के ज़ोर से, बिजली की ताक़त से, प्राकृतिक शक्ति के प्रभाव से, हवा की सी तेज़ी के साथ चलती हैं, ये सब सवारियाँ समस्त प्राकृतिक शक्तियों पर प्रभुता प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील, तमोगुणप्रधान पाश्चात्य जातियों के उपयुक्त वाहन हैं। जिस तरह ये गाड़ियाँ अपनी धमक से पृथिवी को कम्पायमान करती हुई निरन्तर गमनशील रहती हैं, ठीक वैसे ही पाश्चात्य जातियाँ भी अपने अनवरत उद्योग से धरातल में खानें खोद-खोदकर, सुरंगे लगा-लगाकर उसे छिन्न भिन्न किये जा रहे हैं। त्वरित गति से चलने घाला तेजयान तुरङ्गम वीरविक्रान्त युद्धव्यवसायी रजोगुणप्रधान राजपूत जाति का उपयुक्त वाहन है। जिस तरह परमतेजस्वी राजपूत को हठ-धर्म का पालन करने में अपार आनन्द मिलता है और अपने हठ की रक्षा के लिए वह अपने प्राण हथेली पर लेकर उड़ता है, ठीक वैसे ही उसका उपयुक्त वाहन तुरङ्गम भी अपनी गति से सदागति यानी वायु को भी पराभूत कर देता है।

शाम-दाम आदि गुणों से अलङ्कृत भारत के सात्त्विक ब्राह्मणों की प्रकृति के अनुकूल वाहन ही गोयान यानी बैलगाड़ी है। मानो देवशिल्पी विश्वकर्मा ने "गो ब्राह्मणहिताय च" (गौ और ब्राह्मण के हित के लिए) इस अपूर्व यान का निर्माण किया था। हिन्दुओं के आराध्य देवदेव महादेव परमयोगी और कर्म-मुक्त हैं, वे वृषभ के आसन पर ही समारूढ़ हैं। "शिष्यविद्या गरीयसी" (शिष्य की विद्या अधिक तीव्र होती) भक्त देवताओं से भी एक सीढ़ी ऊपर चढ़ गये हैं। वृषभ की पीठ पर वीर आसन से बैठकर हाथ में छड़ी लिये हुए जब बार-बार वृषभराज को हाँकना पड़ेगा तो समाधि के भंग हो जाने की आशङ्का रहेगी—निर्विकार, निष्क्रिय, विशुद्ध चैतन्य स्वरूप होने के मार्ग में बाधा पड़ेगी, इसीलिए दो बलवान वृषभों को बाँस की बनी हुई सुन्दर गाड़ी में जोतकर और हाथ में छड़ी देकर उन वृषभों के पीछे सारथी को बैठाकर सात्त्विक प्रकृति के आरोही दारुब्रह्म के समान निश्चल एवं सांख्य के पुरुष के समान निर्लिप्त हो जाते हैं, मानो जगत की संस्थिति के कारण नारायण क्षीरोद-शय्या पर अनन्त शयन में कोटिकल्प से योगनिद्रा में निमग्न हैं।

जितना ही विचार करता हूँ उतना ही मुझे मालूम पड़ता है कि बैलगाड़ी हमारी जातीय प्रकृति के साथ बहुत ही स्पष्ट भाव से मेल खाती है। रेलगाड़ी में सभी तरह की अशान्ति और बन्धन है। रेलगाड़ी चलाने के लिए लोहे की पटरी बिछानी

पड़ेगी, सड़क निकालनी पड़ेगी। पटरी पर से रेखा-भर के लिए विचलित होने पर प्राण का सङ्कट रहता है, पटरी के ऊपर यदि कोई चीज़ पड़ी रही, तो उसी क्षण लदी-लदाई गाड़ी गिर कर चूर-चूर हो जाती है, रास्ता यदि कहीं बेमरम्मत हो गया तो उसी क्षण ट्रेन का गमनागमन बन्द हो जाता है। इतने पर भी रेलगाड़ी की चाल देखते रहने, ड्राइवर को सतर्क करने और इंजन को कोयला-पानी पहुँचाने के लिए न जाने कितने आदमियों की ज़रूरत पड़ती है। रेलगाड़ी एक निर्दिष्ट स्थान पर निर्दिष्ट समय के लिए रुकेगी और निर्दिष्ट मार्ग से निर्दिष्ट समय के भीतर ही जायगी। कठोर व्यवस्था है, पद-पद पर नियम की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती है। उसकी सारी बातें बिलकुल योरपीय सभ्यता के अनुकूल हैं। वहाँ की ही तरह की वेश-भूषा अपेक्षित है। वही कालर, नेकटाई, बेल्ट और गार्टर का बाँधना, उसी डिनर-टेबिल और ड्राइंग रूम के एटीकेट का पालन, वहीं के धर्म का अनुष्ठान और वहीं के समाज की रीति-नीति का बन्धन! अपने मन के अनुसार स्वाधीन भाव से एक पग भी आगे बढ़ना सम्भव नहीं है।

बैलगाड़ी हिन्दू-समाज के समान सार्वभौमिक है। झाड़ी जंगल और राह-कुराह, इसकी गति कहीं भी नहीं रुकती। यह बँधे हुए नियमों और कड़े क़ानूनों के नाग-पाश से आबद्ध नहीं है। धीरे-धीरे निर्विकार भाव से यह सर्वत्र आती जाती रहती है, रास्ते की ऊँचाई-निचाई या सीधेपन और टेढ़ेपन का विचार

नहीं करती। अत्यन्त विशाल हिन्दू-समाज जिस तरह वृक्षों के तनों, कंकड़-पत्थर और तरह-तरह के देवी-देवताओं से लेकर निर्गुण ब्रह्म तक को अपने अङ्क में स्थान दिये है, वह किसी प्रकार का विवाद या भेदभाव प्रदर्शित न करके धीर एवं स्थिर गति से अपने ध्रुव लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहा है, उसे कहीं भी श्रान्ति या क्लान्ति नहीं मालूम पड़ती, उसी तरह बैल-गाड़ी भी खेती के हरे-भरे मैदानों तथा बालुकामय नदी-तट से लेकर संसार के ऊँचे-नीचे। सभी तरह के स्थानों में समान गति के साथ धीर संयतगति से चली जाती है, उसकी गति कहीं रुकती नहीं। हिन्दुओं का समाज और यान दोनों ही शान्ति और प्रीति के लीला-स्थल हैं। इसी तरह जब योरप के समाज पर हम दृष्टिपात करते हैं, तब वह हमें ऐसा जान पड़ता है कि वह भाप के इंजन के समान आँखें लाल-लालकर उद्दाम उन्मत्त वेग से दौड़ रहा है, अणुमात्र भी लक्ष्य से भ्रष्ट होते ही विनाश के मुख में उपनीत हो जायगा। कलुषित प्रवृत्ति, उद्दाम आकांक्षा, विजातीय उत्साह और हृदय को वेदना प्रदान करने वाली अतृप्ति योरोपीय प्रकृति के मस्तक में कलङ्क की कालिमा लपेट रही है। इंजन का कृष्ण अंगार निरन्तर धुआँ उगल-उगलकर आकाश-मण्डल को कालिमा से समाकीर्ण कर रहा है। वहाँ के यान और समाज दोनों में ही अशान्ति और अप्रीति स्पष्ट रूप से प्रतीयमान है। इसीसे तो कहता हूँ कि बैलगाड़ी शुद्धशील सात्त्विक भारतीय प्रकृति के बिलकुल अनुकूल है।

अस्तु, अब इन सब दार्शनिक तत्त्वों को छोड़कर ज़रा रेलगाड़ी और बैलगाड़ी की सुविधा-असुविधा पर विचार किया जाय। रेलगाड़ी में बारह महीने और तीस दिन समान भीड़ रहती है। ज़रा-सा पैर फैलाकर बैठें या शरीर को लम्बा करके लेटें, इसका ठिकाना वहाँ नहीं है। गरुड़पत्ती के समान घुटने उठा कर बैठा हूँ, घुटने को ज़रा-सा झुकाते ही साथ के दूसरे यात्री के टोकरे के खोंचे से या तो धोती फट जायगी या शरीर का चमड़ा ही छिल जायगा। पास-पास ढेर-के-ढेर बड़े-बड़े बोरे रक्खे हुए हैं, सामने कई ग्रामीण खड़े हैं, दम घुटने का उपक्रम हो चला है। बेंच पर पीछे की ओर छाता, लाठी, बर्छी वगैरह तेज़ और धारदार अस्त्र रक्खे हैं, ज़रा-सा पीछे हटते ही बिंध जाने की आशङ्का है। दाहिनी ओर चाचा साहब बैठे हैं, वे रह-रहकर जँमुहाई लेते हैं, इससे लहसुन और प्याज की गन्ध से नाक नहीं दी जा रही है। बाईं ओर मारवाड़ी-महाजन काईं-माईं करके कान का पर्दा ही फाड़े डाल रहे हैं। हवा के साथ उड़-उड़कर कोयले के कण आँखों में पड़ रहे हैं। काठ की बेंच के कोमल-स्पर्श से अङ्ग-प्रत्यङ्ग कण्टकित हो रहे हैं, अथवा शतरंजी को मोड़कर जो गद्दी बनाई गई है, उसके क़िले से निकलकर खटमल शरीर में शेल-बेध कर रहे हैं। ज़रा सी तन्द्रा आते ही या तो लकड़ी की दीवार से टकरा जाने पर चेतनता प्राप्त हो जाती है, या सामने झुककर गिरते ही साथ के दूसरे यात्री के कोमल आमन्त्रण से हृदय शीतल हो जाता है।

रेलगाड़ी के किसी-किसी डब्बे में सोने के सुभीते के लिए ऊपर लटके हुए बेंच बने रहते हैं, किन्तु उन पर चढ़ने-उतरने के समय माथा फूटने का बहुत भय रहता है। साथ ही असहिष्णु सहयात्री के उत्तमाङ्ग यानी मस्तक में पादुका के सञ्चरण की भी बहुत अधिक सम्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त जिमनास्टिक जाने बिना चढ़ना-उतरना साध्य नहीं है। सब से अधिक क्लेश होता है, स्टेशन-स्टेशन पर यात्रियों के चढ़ने-उतरने की भीड़ के कारण—उनके टोकरी और बाक्स आदि के चढ़ाने-उतारने के कारण। नये मुसाफ़िर उतावली के साथ शरीर पर जूते का ठोकर मारते चले गये, मस्तक पर बाक्स का ठोकर मार दिया। यह सब तो चटनी है, बोझे के ऊपर शाक की छोटी-सी गठरी के समान है। जब तक वहाँ रहेंगे, हिलने-डोलने का साहस न कर सकेंगे, एक बार स्थान छोड़ते ही बेदख़ल हो जायँगे। स्टेशन पर उतरने का अवसर नहीं है, कहीं ऐसा न हो कि गाड़ी छूट जाय, हमें पीछे छोड़कर चली जाय। चित्त में सदा ही आशङ्का बनी रहती है।

गन्तव्य स्थान पर पहुँचकर भी शान्ति नहीं मिलती। उतरते समय असावधानी के लिए साथ के दूसरे यात्रियों की आँखें देखना, उनसे विनयपूर्वक क्षमा माँगना, कुली बुलाना गठरी, मोटरी और बाक्स आदि के उतारने की उतावली, इसी सिलसिले में फिर एक बार मुसाफ़िरों से क्षमा माँगना। गाड़ी पर से उतरते ही अस्थावर सम्पत्ति के उतारने के लिए ज़नाना

डब्बे में दौड़कर जाना, अवगुण्ठनवतियों में से अपने माल की शिनाख्त करना, और रोते हुए बालक को गोद में लेकर उसे चुमकारते-चुमकारते कैश-बाक्सधारिणी अर्द्धाङ्गिनी को उतारना। यह सब काम चुटकी बजाते करना होगा, अन्यथा दाम्पत्य-बन्धन में चिर-विच्छेद की आशङ्का है।

और बैलगाड़ी ? यहाँ सुविमल शान्ति और अनन्त विश्राम है। आदमी की भीड़ नहीं है, कोई झगड़ा झञ्झट नहीं है, किसी के साथ सङ्घर्ष होने की भी आशङ्का नहीं है। I am monarch of all I survey, My right there is none to dispute. दूसरे का मुँह ताककर सर्वसाधारण-यात्रियों की सुविधा के लिए व्यक्तिगत स्वाधीनता का बलिदान करना आवश्यक नहीं है। गाड़ी के फ़र्श पर खूब पुआल बिछा है, ऊपर से तोसक और चदरा बिछाकर आराम से हाथ-पैर फैलाकर लेटे पड़े हैं। उठने पर माथा घूमेगा, बैठने पर वमन का उद्रेक होगा और यदि खड़े होने का प्रयत्न करें, तो पतन अवश्यम्भावी है। यहाँ शयने-पद्मनाभ के अतिरिक्त दूसरी गति नहीं है। शायद भावी कोशकारों को यह लिखना पड़े कि जिस यान में आरोहण करने पर लेटने के अतिरिक्त और कोई गति नहीं है, उसे गोयान कहते हैं।

गठरी-मोटरी और सन्दूक़ आदि सारा सामान पीछे बँधा है। यह सब गाड़ी के भार-केन्द्र को ठीक रखता है। उसके ऊपर पैर फैलाकर शरीर के भार को हलका कर रहा हूँ।

ऊपर का झालर गाड़ी की मन्थर गति से ज़रा-सा आन्दोलित होकर वायु के मन्द कम्पन से उड़कर पंखे का काम कर रही है। बाईं ओर तेल का चोंगा निरन्तर इधर से उधर घूमकर पेंडुलम के समान समय का निरूपण कर रहा है। दाहिनी ओर गाड़ी की छाजन में खोंसा हुआ हँसिया Feudal castle (ज़मीदारों के क़िले) की भीत पर लटकाये हुए युद्ध के अस्त्र के समान सुशोभित हो रहा है। ऊपर की छाजन बाँस की और लकड़ी की पट्टियाँ लगा-लगाकर ऐसी सावधानी से की गई है कि वह चन्द्रमा के प्रकाश में अँटारी में लगे हुए कड़ी बरंगों का भ्रम उत्पन्न करता है। बोरे में भरकर लोटा, थाली और बटलोई आदि गाड़ी के नीचे टँगा है, वह दुन्दुभी का-सा निनाद करता जा रहा है। गाड़ी की मृदु एवं मन्थर गति तथा उसके पहियों की कोमल एवं मन्द ध्वनि "श्रोणी-भारादलस-गमना" नूपुर-चरणा वाराङ्गना का स्मरण कराये देती है। बार-बार आन्दोलित होकर कर्दम एवं गोमय से लिप्त गोपुच्छ कपोलों पर हरिचन्दन छिड़क रहे हैं। गाड़ीवान रूपी सच्चिदानन्द हुङ्कार-रव से प्रणव का उच्चारण कर रहे हैं, और मैं बाँस के हिंडोले पर आरूढ़ हुआ अन्त के उस दिन की भयङ्कर बात का स्मरण करके परमार्थ-तत्त्व में मग्न हुआ पड़ा हूँ। क्या ही अपूर्व आनन्द है, क्या ही विमल शान्ति है, कैसा प्रगाढ़ योगाभ्यास है। बस्ती में या मैदान में जहाँ कहीं भी चाहूँ, अपनी इच्छा के अनुसार रोक सकता हूँ और जब चाहूँ तब हँकवा सकता

हूँ। समय आदि का किसी तरह का कोई बन्धन नहीं है। हृदय की चाह मिटाकर खूब मनमाना प्राकृतिक सौन्दर्य देखते देखते चला जा रहा हूँ। रेलगाड़ी की तरह आकाश से टूटे हुए तारे के समान वेग से दौड़कर मार्ग के प्राकृतिक दृश्यों का अवलोकन करने तथा उनका आनन्द लूटने में व्याघात नहीं उत्पन्न करती। "यथाविधो मे मनसोऽभिलाषः प्रवर्तते पश्य तथा विमानम्"। (जिस तरह मेरे मन की अभिलाषा है, वैसे ही यह विमान भी चल रहा है)। यह मानो मनोरथ के अनुसार चलनेवाला ठीक पुष्पक रथ है।

यदि कहीं आप इस रथ पर युगल मूर्ति से विराजमान हों, तब वह मानो मणिकाञ्चन संयोग है। स्थान के विस्तार, शरीर के अवस्थान और यान की गति आदि तीनों के अपूर्व सम्मिश्रण से इस स्थल में अनन्त अविच्छिन्न मिलन अवश्यम्भावी है। यहाँ मान, अभिमान, विराग तथा विरह का कोई अवसर ही नहीं है। भीरुस्वभावा सीता देवी दण्डक वन में मेघ की गर्जना सुनकर रामचन्द्र के प्रगाढ़ आलिङ्गन में आबद्ध हो गई थीं। वह "कम्पोत्तरं भीरु तवोपगूढ़म्" वह "निविड़ बन्ध परिचय" प्रेमिक रामचन्द्र बहुत दिनों तक नहीं भूल सके। हम भारतीय कापुरुष होते हैं। मेघ का गर्जन श्रवण करने पर स्वयं ही भयभीत होकर मूर्छित हो पड़ते हैं, तब भला क्या हम प्रिया के सुखस्पर्श का अनुभव कर सकेंगे? किन्तु बैलगाड़ी जिस समय ऊबड़-खाबड़ ज़मीन में ऊँचे

स्थान से एकाएक नीचे उतरती है, उस समय गिरने के भय से लज्जाशील कुलवधू बहुत कुछ तो जड़जगत् के गतिविज्ञान के अमोघ नियम से और बहुत कुछ नारी-हृदय के लज्जा और शङ्कामय अनुराग से पूर्ण होकर बग़ल में विराजमान पति को अपने प्रगाढ़ आलिङ्गन से उसके हृदय में दण्डकारण्यवास के समय की प्रियसहचरी की बात उदित करा देती है। अवसर को समझनेवाले पति भी पतन का निवारण करने के लिए अन्वर्थ उपाय का अवलम्बन करते हैं। धन्य री बैलगाड़ी, पवित्र प्रणय के ऐसे मधुर रस का उपभोग तेरी ही कृपा से हम भारतवासी किया करते हैं !

इस विषय में मेरे एक अभिन्न हृदय बाल्यबन्धु ने अपने अतीत जीवन की सुख-स्मृति के जिस एक पट का उद्घाटन किया है, यहाँ उसका उल्लेख कर देना मैं जहाँ तक समझता हूँ, असङ्गत न होगा। बन्धुवर ने लिखा है—

"नयी नौकरी पर बहाल होकर सस्त्रीक शकट पर आरोहण किया और प्रवास के लिए प्रस्थान किया। चाँदनी रात थी। भोजन आदि के उपरान्त हम दोनों प्राणी श्रीदुर्गा का नाम लेकर गाड़ी पर सवार हो गये। गाँव की कच्ची सड़क से कुछ दूर चलकर गाड़ी पक्की सड़क पर पहुँची। दोनों बग़ल बहुत बड़े बड़े मैदान थे। आकाश पर चन्द्रमा सुषुप्त जगत पर सुधा की धारा बरसा रहे थे। निशाकाल की निस्तब्ध प्रकृति

हृदय में स्वप्न के से दृश्य का सञ्चार कर रही थी। कुछ दूर तक सोते सोते और कुछ दूर तक जागते हुए प्रसन्न भाव से उस सुदीर्घ पथ में चले जा रहे थे। अन्तःकरण में विमल शान्ति और परिपूर्ण सुख का निर्झर प्रवाहित हो रहा था। क्रमशः पूर्व दिशा में अरुण की लालिमा गाढ़ी हुई, वृक्षों की शाखाओं पर पक्षी प्रभाती गाने लगे। देखते देखते प्राची दिग्वधू के मस्तक में बालसूर्य्य रूपी सिन्दूर का विन्दु सुशोभित हुआ। इधर दिन के प्रकाश में सलज्जवदना प्रिया के अवगुण्ठन से उसके मस्तक का सिन्दूर-विन्दु आच्छादित हो गया। प्रभातकाल की स्निग्ध वायु के संस्पर्श से निद्रा का आकर्षण हुआ। उसका आवरण हटते ही मैंने उठकर देखा कि नदी पार कर रहा हूँ। नदी के तट पर से गाँव की सुन्दरियाँ बाईं कमर से पानी का कलसा दबा कर दाहिना करपल्लव झुलाती हुई गाँव की ओर चली जा रही हैं और परस्पर एक दूसरी से अपनी अपनी घर-गृहस्थी के सुख-दुख का हाल बतला रही हैं। ये सब ग्रामीण स्त्रियाँ बहुत ही सरल प्रकृति की हैं, किसी में किसी तरह की विलासमय चञ्चलता, किसी तरह का हावभाव नहीं है। किसान लोग बैलों की पूँछ मरोड़ मरोड़कर खेत में हल चला रहे हैं। लड़के अपने अपने चौपाये चरा रहे हैं और बहुत ही प्रसन्न भाव से बिरहा गा रहे हैं। उनके गाने का सुर बड़ा मधुर था।

क्रमशः दिन चढ़ आया। क्षुधा और तृष्णा का उद्रेक हुआ। इतने में एक अड्डे पर पहुँच गये। सड़क के किनारे एक पीपल

के पेड़ के नीचे गाड़ी खड़ी करवा दी और हम युगलमूर्ति उस पर से उतर कर एक दूकानदार के घर में प्रविष्ट हुए। दूकानदार ने घर के भीतर एक कोठरी लीप-पोत कर हमारे लिए छोड़ दी। मैं पोटलियों में बँधा हुआ चावल, दाल, नमक, मिर्चा, हल्दी आदि निकालने लगा और जिस-जिस चीज़ का अभाव था, वह सब दूकानदार से मुहैया करने को कहा। इधर गृहिणी दूकानदार की छोटी लड़की को साथ में लेकर तालाब पर स्नान के लिए गईं और गीला ही वस्त्र पहने हुए जल से भरा हुआ घट बग़ल में दबाकर मङ्गलमयी के वेश में आविर्भूत हुईं। यथासमय रसोईं तैयार हो गई और मैं स्नान करके चौके में बैठा। कितनी सुन्दर रसोईं बनी थी, कितने अच्छे ढंग से परोसी गई थी। घर में भी गृहिणी ने कितने ही दिन रसोई बनाई थी, परन्तु वह रसोई चार हाथ की होती थी। उनके संस्पर्श से कौन सी वस्तु अमृतायमान हुई है यह जानने का अवसर कभी किसी ने भी नहीं दिया। अब आज तो किसी प्रकार का सन्देह या, द्विविधा करने की बात रह नहीं गई। समझ लिया कि प्रवास में नई गृहस्थी बाँध कर सुख से ही समय व्यतीत कर सकूँगा। इधर परोसते समय नवीन गृहिणी-पन के आनन्द में तथा गुरुजनों के परोक्ष में भी उनके मुखमण्डल पर लज्जा और सङ्कोच की रेखा उनकी शोभा का कितना प्रस्तार कर रही थी।

धूप कम होने पर बैलगाड़ी फिर जोत दी गई। दो चार

कोस जाते ही जाते गोधूलिकाल आगया। पश्चिम के आकाश में सूर्य्यदेव तिरोहित हुए। एक बार आकाश के लोहितवर्ण और एक बार प्राणप्रिया की लज्जा से अरुण मुखश्री को देखा। समझ में यह न आया कि कौन सी शोभा अधिक मनोमुग्धकारी है। पहर भर रात बीतने पर फिर एक दूसरे अड्डे पर पहुँचे, और वहीं पर विश्राम किया। रात्रि के अन्तिम भाग में नवीन स्फूर्ति के साथ फिर यात्रा की। उस रात को रसोई आदि नहीं बनी थी, एक किसान के यहाँ से दूध लाकर क्षुधा और पिपासा दोनों को ही निवृत्त कर लिया था।

दूसरे दिन प्रदोष काल में अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचे। अपने प्रवास के इस नवीन गृह में पहुँचकर अपनी संसार की सङ्गिनी को बड़े आदर के साथ गृहस्वामिनी के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। वह सुखस्मृति आज भी बैलगाड़ी के साथ विजड़ित है। रेलगाड़ी की इस विराम-विश्रामहीन द्रुतगति से समय की बचत तो होगी, परन्तु यात्रा में न तो उस प्राकृतिक सौन्दर्य्य का उपभोग करने का अवसर मिलेगा और न भ्रमण-काल का वह सुख ही प्राप्त होगा। यह सारा आनन्द रेलगाड़ी की बदौलत रसातल को चला जायगा। देश-भ्रमण का कवित्वरस उठ जायगा। "The poetry of travelling is gone."

सुहृद्वर की व्यक्तिगत सुखस्मृति को छोड़कर यदि

साधारण भाव से भी विचार किया जाय तो यह बात अनायास ही मन में जम जाती है कि बैलगाड़ी में जो कवित्व रस भरा है, रेलगाड़ी में उसकी गन्ध तक नहीं है। रेलगाड़ी की बात मन में आते ही टिकट-घर में यात्रियों की भीड़ और जेब कटने की आशङ्का, माल-असबाब के सम्बन्ध में कुलियों का झंझट और असबाब को तौलनेवालों की कारसाज़ी, गाड़ी छूट जाने का भय, गाड़ियों का आपस में लड़ जाना, चलती हुई गाड़ी में चोरी-डकैती और पाशविक अत्याचार आतङ्क ही हृदय में उत्पन्न होता है। इसमें कवित्व नहीं है, रस नहीं है, प्रेम-प्रीति का अवसर नहीं है। इसका मूल कवित्व है Iron horse, यानी लोहे का घोड़ा।

और बैलगाड़ी? बैलगाड़ी प्राचीन भारत के सुदूर अतीत के साथ वर्तमान का कैसा मधुर बन्धन है, कैसा अखण्ड संयोग स्थापित करती है! म्लेच्छ-यवन, शक-हूण, मुग़ल-पठान, फ़रासीसी-अँगरेज़ आदि विदेशी जातियों ने राष्ट्र में जो विप्लव उत्पन्न किया है, उसके वास्तविक सत्य को लुप्त करके अतीत के साथ वर्तमान का अविच्छिन्न एकता का स्मरण करा देती है। बैलगाड़ी का नाम सुनते ही स्मृति-पट पर भारत के अतीत का कितना विचित्र चित्र उदित हो आता है।

आज भी पञ्चतन्त्र के पृष्ठ उलटने पर यह दृश्य सामने नाचने लगता है कि वर्द्धमान नामक वणिक पुत्र दाक्षिणात्य

में, महिलारोप्य नामक नगर से, गोशकट पर चीज़वस्तु सजा कर, घर के पाले हुए सञ्जीवक तथा नन्दक नामक दो बैल जोते हुए व्यापार के निमित्त मथुरा की ओर चला जा रहा है। शकट मन्थर गति से यमुना के कछार में होकर चला जारहा है, स्निग्ध शीतल पवन चल रहा है, और वैश्य का पुत्र शकट पर सोया हुआ पण्य द्रव्यों को बेंचकर लाभ उठाने का स्वप्न देख रहा है।

फिर क्या देखता हूँ कि यह मानो उज्जयिनी का राजपथ है। मानसपट पर एक-एक करके तीन दृश्य उदय होते हैं। एक ओर देखता हूँ कि शर्विलक नामक ब्राह्मणतनय प्रेम की महिमा से वाराङ्गना की क्रीतदासी मदनिका का बिना मूल्य ही निष्क्रय करने में समर्थ हुआ है और मन में हर्ष से गद्गद होकर प्रेम-प्रतिमा को लिये हुए गोयान पर समारूढ़ सुख का जीवन आरम्भ कर रहा है।

दूसरी ओर क्या देखते हैं कि विशुद्ध चरित्रवाली वसन्तसेना अपना हृदय चारुदत्त को समर्पित करके गोयान पर सवार हुई अपने जीवन-सर्वस्व के निमित्त अभिसार में जा रही है, किन्तु 'प्रवहण-विपर्य्यय से' दुष्ट शरीर के हाथ में पड़कर अशेष लाञ्छना भोग रही है।

तीसरी ओर एक और ही दृश्य है। गोपालदारक आर्य्यक सिद्धपुरुष की भविष्यवाणी के अनुसार सिंहासन प्राप्त करेंगे, इस आशङ्का से राजा पालक ने उन्हें कारागार में डाल रक्खा

है। कारागार से निकल भागने के उपरान्त "वधूयान" पर समारूढ़ होकर वे अपने आप को छिपाने की चेष्टा कर रहे हैं और राजपुरुष चन्दनक तथा द्विज चारुदत्त से अभय प्रार्थना कर रहे हैं।

ये दृश्य मानसपट पर से तिरोहित भी नहीं हो पाते कि एक तीसरा और बहुत पवित्र दृश्य नेत्रों के समक्ष आ पहुँचता है। कौंडिन्य नामक एक मुनिसत्तम अपनी सद्यःपरिणीता शीला नाम की सुशीला भार्य्या को लिये हुए गोयान पर अपने आश्रम की ओर चले जा रहे हैं। मध्यान्ह का समय है। नदी के तट पर बहुत सी व्रतधारिणी कुलललनाएँ अनन्त की ओर धावण करके उनकी पूजा कर रही थीं, यह देखकर विमाता के निर्य्यातन से तुरन्त की निकली हुई वालिका वधू स्वामी के सौभाग्य की कामना से यह व्रत ग्रहण कर रही हैं, साथ ही व्रतसिद्धि और भविष्य में घर-गृहस्थी का सुख भोगने का स्वप्न देख रही है।

इधर से दृष्टि हटाकर देखता हूँ कि सामने विराट दृश्य है। पुण्य भूमि आर्य्यावर्त्त में वैदिक ऋषि अशेष ऐश्वर्य्य प्राप्त करने के निमित्त सोमपान कर रहे हैं। राजा 'सोम' को गोयान पर स्थापित करके उसको छाजन से आवृत करके 'हविधिन-प्रवर्तन' प्रक्रिया सम्पन्न कर रहे हैं, साथ ही उदात्त अनुदात्त और स्वरित के क्रम से स्निग्ध गम्भीर निर्घोष से ऋग्वेद का उच्चारण करते जा रहे हैं।

इसी से कह रहा था कि प्राचीन भारत के साथ आधुनिक भारत का, अतीत के साथ वर्तमान का, ऐक्य स्थापन करने की शृङ्खला यह बैलगाड़ी ही है। हिन्दू जाति का वाणिज्य-व्यापार, हिन्दू जाति की राजनीति, राष्ट्र विप्लव, हिन्दुओं के प्रमोद एवं प्रमदाप्रीति, हिन्दू जाति के वृत एवं धर्म के आचरण आदि सभी प्रथाओं में यह बैलगाड़ी विराजमान है। आज हम विधि की विडम्बना से विलायती सभ्यता के मोह में पड़ कर अन्धे हो गये हैं और उस जातीय जीवन की चिर सहचरी बैलगाड़ी को खो बैठे हैं ! हाय आर्य सन्तान !!

※ ※ ※

अब वह बात नहीं रही। इस मैदान के किनारे से रेल की सड़क निकल गई। ट्रेन की वंशी बज उठी। एक वह दिन था, जब मोहन की मधुर मुरली की ध्वनि सुनकर वृजवालाओं ने अपना कुल त्याग दिया था। अँगरेज़ी राज्य की इस मुरली की ध्वनि सुनकर ग्राम्य सुन्दरियों की क्या दशा होगी, इसे भगवान ही जानें।

२—कवि बनने की कामना

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ने कहा है कि कवि होकर मैंने भूमण्डल पर जन्म ग्रहण किया है। मेरा पूर्वजन्म का इतना पुण्य नहीं था। परन्तु फिर भी अधिक अवस्था व्यतीत होने पर मेरे मन में भी कविता के विलास की लालसा उत्पन्न हुई। एक दिन एकाएक दिल में आया कि मैं भी कवि बनूँ, पाठक यह पूछ सकते हैं कि इतने विलम्ब से यह इच्छा क्यों उत्पन्न हुई? स्मरण रखिए कि किशोरावस्था में ही आजकल की-सी अकाल पकता मुझ में नहीं आ पायी, मैं अल्प-विद्या को ही इस तरह बढ़ाकर जनता को प्रदर्शित करने का साहस नहीं कर सका। कालिदास का 'मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्' मेरी साधना का मन्त्र हो गया। स्थिर किया कि जिस तरह भी हो, मुझे कवि बनना है। कलकत्ता शहर के कितने ही फैशनबाज कवियों का चाक्षुष प्रत्यक्ष किया था। उन्हीं का-सा पहनावा, उन्हीं की सी चाल-ढाल बनाने लगा। मेरे मस्तक के बाल थे सशङ्क साही के पृष्ठ पर के काँटों के समान—'Like quills upon the fretful porpentine' (Porcupine) बाल

काटनेवाले की दूकान पर जाकर ऊँचे दर की नज़र दी और उग्र यन्त्रणा सहनकर केशों को कुञ्चित करवा लिया। शरीर का रँग था भ्रमर के समान काला। प्रतिदिन थोड़ी-थोड़ी सी संखिया पेट में डालकर चेहरे पर कुछ सुर्खी ले आया। शून्य नम्बर का चश्मा धारण किया। चूड़ीदार, लपेटी हुई ढाका-फैशन की धोती, सिल्क का डुपट्टा आदि सभी का उपभोग करने लगा। बाक़ी रही केवल Inspiration अर्थात् कवि-प्रेरणा।

कवि-प्रेरणा के झरने की तलाशमें कवियों की ग्रन्थावली उलटने लगा। देखा, किसी ने कहा है—बाथुली आदेश, कहे चण्डीदास—बाथुली एक देवी-विशेष की आज्ञा से चण्डीदास कहते हैं! किसी ने कहा है—देवी चण्डी महामाया दिलेन चरण छाया, आज्ञा दिलेन रचिते सङ्गीत'—महामाया देवी चण्डी ने चरणों की छाया दी और सङ्गीत रचने का आदेश किया। किसी ने कहा है—भवानीर आज्ञाय भारतचन्द्र गाय'—भवानी की आज्ञा से भारतचन्द्र गाता है। यहाँ तक कि नवीन युग के महाकवि माइकेल मधुसूदन दत्त ने भी ईसाई मत भूलकर विशुद्ध हिन्दू के समान (समय आजाने पर मनुष्य का यही हाल होता है)- वन्दि चरणारविन्द अति मन्दमति आमि, डाकि आवार तोमाय, श्वेतभुजे भारति'—हे श्वेत भुजावाली भारती, तुम्हारे चरणारविन्द की वन्दना करके मन्द बुद्धिवाला मैं तुम्हें फिर पुकारता हूँ—कहकर सरस्वती का आवाहन किया है। पश्चिम के

प्राचीन कवियों ने भी Muse अर्थात् विद्या की अधिष्ठात्री देवी का आवाहन किया है। ईसाई कवि मिल्टन तक ने उन्हीं के पद-चिह्नों पर पदार्पण किया है। अन्तर केवल यह है कि उन्होंने Heavenly Muse कहकर मूर्तिधारी देवता का संशोधन कर लिया है।

अस्तु, उक्त ढंग से भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं की वन्दना पढ़कर मैं बड़े झमेले में पड़ गया। इन सब देवी देवताओं के बीच में मैं अबोध-सा होगया, समझ ही न सका कि किस ओर क़दम बढ़ाऊँ। ऋग्वेद के ऋषि के समान "कस्मै देवाय हविषा विधेम" कहकर आकुल हो उठा। (छोटे मुँह से बड़ी बात!) जो भी हो, कृष्णनगराधीश के दरबारी कवि भारतचन्द्र के 'भारतेर भारती भरसा' अर्थात् भारत को भारती का ही भरोसा है, इस वाक्य को शिरोधार्य्य किया और मन में यह स्थिर किया कि वाग्देवी वाणी की ही शरण लेना अधिक श्रेयस्कर है।

क़लम, दावात और काग़ज़ लेकर सरस्वती की एक प्रार्थना लिखने का उपक्रम कर रहा था। इतने में ताम्बूल लेकर गृहिणी उसी कमरे में प्रविष्ट हुई। लिखने का सारा सामान देखकर उन्हें कौतूहल हो आया, कुर्सी का पीठ की ओर से वे झुक पड़ीं और देखा कि बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा है—सरस्वती-वन्दना।

देखते ही वे बोल उठीं—यह क्या! आजकल के समय में भी तुम वही पुरानी सरस्वती की वन्दना लिखते हो! तुमने क्या पढ़ा नहीं; हेम बाबू ने लिखा है—

'देवता असुरगण क्रमे हय अदर्शन,
ईश्वरेरइ सिंहासन उठितेछे कांपिया।'

अर्थात् देवता और दैत्य आदि क्रमशः सब अदृश्य हो गये। ईश्वर का ही सिंहासन काँप रहा है।

"इसके अतिरिक्त आजकल के समय में वीणापाणि की उपासना केवल एक श्रेणी के स्त्री-समाज में ही प्रचलित है, तुम्हारे जैसे कृतविध तो जीते-जागते और चलते-फिरते पुरुष रूपी सरस्वती की ही पूजा किया करते हैं। क्या तुम उनकी पूजा के लिए अप्रस्तुत होकर विश्वविद्या रूपी जननी के त्याज्य पुत्र होना चाहते हो?"

स्वसुरजी ने मेरा दिमाग़ चाटने के लिए इन्हें लड़कियों के कालेज़ में पढ़ाया है। अब इस 'अल्पविद्या भयङ्करी' के कारण मैं हैरान हूँ। इति जनान्तिके और कोई उपाय न देखकर मैंने कवि बनने की गुप्त वासना गृहिणी के समक्ष व्यक्त कर दी।

मेरी बात सुनते ही एक गाल हँसकर उन्होंने अपनी 'दन्तरुचिकौमुदी' विकसित कर दी। वह कहने लगी—तो इसके लिए किसी दूसरे देवता के द्वार पर धरना देने की क्या जरूरत है? क्या तुम्हें मालूम नहीं है कि हाल के क़ानून में पत्नी ही पति की आराध्य-देवता है? पत्नी के ही प्रेम में तन्मय होओ,

उसी को अपने ध्यान और ज्ञान का विषय बनाओ, कवि-प्रेरणा अपने आप ही आजायगी। 'अर्केचेनमधु विन्देत किमर्थं पर्व्वतं व्रजेत्।' घर में बैठे-ही-बैठे यदि गति-मुक्त हो सके, तब आकाशी वृत्ति का आश्रित होकर देवता का मुँह क्यों ताकें? देखो, महाजनों ने कहा है—गृहस्थ को 'गृहिणी-सचिव' बनना चाहिए। कवि कालिदास ने भी स्वीकार किया है—'गृहिणी सचिवः सखी मिथः' तुम एक साथ ही गृहिणी हो, सखी हो और सचिव हो। अतएव और इधर-उधर न करके मेरा परामर्श लो, सिद्धि प्राप्त होगी।

मुझे एक सुबोध बालक की तरह अपनी बातें ध्यानपूर्वक सुनते देखकर वे और भी उत्साहित हुईं। वे कहने लगीं —कालिदास की चर्चा छिड़ने पर एक बात और स्मरण आगई। कालिदास ने सरस्वती के वर से कवित्त्व-शक्ति प्राप्त की थी, इस प्रकार की किंवदन्ती सुनकर शायद तुम्हारी इस तरह की बुद्धि हुई है। परन्तु यह तुम्हारी बिलकुल भूल है। उनके कवित्व-शक्ति प्राप्त करने का मूलकारण है पत्नी का तिरस्कार। विदुषी राजकन्या यदि उनका अपमान न करती, तो वे किसी दिन भी कवि न हो पाते। देखो, कालिदास कृतघ्न नहीं थे। उन्होंने प्रिया का सम्बोधन करके 'ऋतु संहार' और 'श्रुतबोध' की रचना की है और अपनी इन कृतियों के द्वारा उस ऋण को स्वीकार करके बहुत कुछ उसका परिशोध भी कर डाला है। वर्त्तमान युग में भी कितने ही कवि पत्नी के नाम पुस्तक का उत्सर्ग करके पत्नी-ऋण का प्रतिशोध किया करते हैं।

"यह तो हुई कालिदास की बात। अब 'भारत के कालिदास' को छोड़कर 'संसार के कालिदास' अर्थात् शेक्सपियर को ले लीजिए। अँगरेज़-बच्चा शेक्सपियर ने पिता के उत्तम पुत्र होकर भी इस बात को कालिदास के ही समान इतनी आसानी से, इतनी सुजनता के साथ, नहीं स्वीकार किया अवश्य; किन्तु पत्नी के प्रभाव से ही उनके कवित्त्व की स्फूर्ति हुई थी, यह बात उनके प्रथम मानस सन्तान (First heir of my invention) 'वीनस ऐंड ऐंडोनिस' काव्य का पठन करके ही, जिसके आँखें हैं, वह देख सकता है। जिस समय 'रासिका वयोऽधिका वाग्विदग्धा' रसिक, अधिक अवस्थावाली और वाग्विदग्धा, वीनस देवी लज्जाशील तरुण युवक एडोनिस के समीप गद्गद् वचन से प्रेम ज्ञापित करती है, उस समय का दृश्य उद्घाटित होने पर किसे यह समझने को बाक़ी रह जाता है कि 'रसिका वयोऽधिका वाग्विदग्धा' एन हेथावे (Anne Hathaway) लज्जाशील तरुण युवक शेक्सपियर को प्रसन्न करने में ही व्यस्त है। तात्पर्य्य यह है कि कवि ने स्वयं अपनी प्रणयिनी के पूर्वराग से ही कविप्रेरणा प्राप्त की है। उनके लिखे हुए कई अन्यान्य मिलनान्त नाटकों में जो इस तरह के दृश्यों का वर्णन है कि प्रगल्भा-प्रेमिका नायिका नायक को प्रसन्न करने में व्यग्र है, वह भी इसी की पुनरावृत्ति है।

कविवर वर्ड्सवर्थ के ऊपर भी पत्नी का ऋण कम नहीं है। उनकी सहधर्मिणी ने उन्हें केवल कवि-प्रेरणा देकर ही नहीं अपने

कर्तव्य की इतिश्री कर दी, वरन् अपनी रची हुई कविता की भी कुछ पंक्तियाँ उनकी कविता में मिला दी हैं। इस तरह की सहायता कालिदास की विदुषी सहधर्मिणी भी नहीं कर सकीं। कवि ने भी कृतज्ञहृदय से एक से अधिक कविताओं में ऐसी सहधर्मिणी का गुणगान किया है। शेली ने दो बार विवाह किया था। दोनों ही पत्नियों के प्रेम में डगमग होकर उन्हीं को लक्ष्य करके इन्होंने कविताएँ लिखी हैं और अच्छे-अच्छे काव्यों को भी उन्हीं के नाम पर उत्सर्ग किया है। टेनिसन का पत्नी-प्रेम इससे भी बहुत बढ़-चढ़कर है। इधर ब्राउनिंग-दम्पति का पारस्परिक अनुराग उनकी सुमधुरप्रेम-कविताओं में बहुत अच्छी तरह से व्यक्त हुआ है। स्पेन्सर ने भावी पत्नी के प्रति लिखे गये 'सानेट' में 'You frame my thoughts and fashion me within,' लिखकर यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि कवि-प्रेरणा का मूल उनकी पत्नी ही है और परिणय के उपलक्ष्य में इतनी सुन्दर कविता लिखी है कि आजकल की प्रेमोपहार में लिखी कविताएँ उसके सामने कविता ही नहीं जान पड़तीं। जर्मन-कवि गेटे ने भी पत्नी को लक्ष्य करके उत्तमोत्तम कविताएँ लिखी हैं। मिल्टन ने दाँत के रहते हुए उसकी मर्य्यादा का अनुभव न करके भी दूसरी पत्नी का अभाव हो जाने पर उसके निमित्त जो सानेट लिखा है, वह कैसा मर्मस्पर्शी है! फ़ील्डिंग कवि नहीं थे, फिर भी उपन्यास लिख कर उन्होंने कल्पना-कुशलता का परिचय दिया है। उन्होंने

यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि पत्नी को आदर्श मानकर ही मैंने नायिका एमिलिया का चित्र अङ्कित किया है।

"बंगाल के प्राचीन कवि मधुर कोमल कान्तपदावली के रचयिता जयदेव गोस्वामी की कविता-सरस्वती जो पत्नी की प्रेरणा से उत्साहित हुई थी, उसे उन्होंने 'पद्मावती चरण-चारण-चक्रवर्ती' कहकर अपना परिचय देते हुए बड़े गौरव के के साथ स्वीकार किया है।* इसके अतिरिक्त बंगाल के नव-युग के मनीषी भू-देव भूदेव के 'पारिवारिक-प्रबन्ध' का समर्पण एक बार पढ़कर देखो। उन्होंने नूतन पुराण में प्रचारित किस दशमहाविद्या-लीलामयी देवी मूर्ति के प्रभाव-प्रसाद और प्रेरणा से जननी बंगभाषा को अमूल्य विचार-रूपी रत्नों के समूह से अलङ्कृत किया है।

जिन बंकिमचन्द्र ने बंगला के साहित्य रूपी आकाश को 'शुभ्र ज्योत्स्ना से पुलकित किया है, उन्होंने स्वीकार किया है—एक व्यक्ति का प्रभाव मेरे जीवन पर गहरी छाप डाल सका है, वह मेरे परिवार का है।......वे न होतीं तो मैं क्या होता; यह नहीं कह सकता हूँ।.........स्त्री ही मेरे जीवन की कल्याण-स्वरूपा है।' चन्द्रशेखर मुखोपाध्याय ने, गद्यलेखक होकर

* यहाँ गृहिणी ने एक भूल की है। नाम की समानता के ही कारण ऐसा हुआ है। जयदेव की पत्नी का नाम पद्मादेवी अवश्य था; किन्तु यहाँ पद्मावती श्रीराधा का नामान्तर था। किन्तु गृहिणी की बात-चीत के प्रभाव में बाधा डालकर रस-भंग करने की प्रवृत्ति मुझे नहीं हुई।

भी अपने एकमात्र ग्रन्थ 'उद्भ्रान्त प्रेम' में कवित्वमयी भाषा के द्वारा जो अपने हृदय का उच्छ्वास व्यक्त किया है, उसका कारण क्या पत्नी-प्रेम ही नहीं है ? इसके बाद भी क्या इसमें यह सन्देह रह जायगा कि पत्नी ही कविप्रेरणा का मूल उद्गम स्थान है—कल्पना रूपी कल्पतरू के मूलाधार में कुलकुण्डलिनी है ?"

मैं चित्त को एकाग्र करके विदुषी वनिता का लम्बा लेक्चर सुना गया। इसे सुनकर मेरे मन में यह बात आई कि लेक्चर देना मेरा प्रति दिन का काम है, परन्तु फिर भी गृहिणी का 'अशिक्षित पटुत्व' मुझे हार मना सकता है। 'मौनं सम्मतिलक्षणम्' मानकर कदाचित वे मुझ पर प्रसन्न हो रही थीं, परन्तु यह बात मुझे अच्छी न लगी। मैंने सोचा कि लेक्चर-बाज़ी में यदि मैंने गृहिणी के सामने पराजय स्वीकार कर ली, तब मुझे अपना व्यवसाय अर्थात् अध्यापकी ही छोड़ देनी होगी। फिर तो मण्डन मिश्र के समान मस्तक मुँडाकर और दण्ड-कमण्डल-धारण करके संन्यासी हो जाना ही मेरे लिए आवश्यक होगा। इसलिए तीव्रस्वर से गृहिणी के पूर्व-पक्ष का खण्डन करने के लिए कटिबद्ध हो गया। मेरे मन में यह बात आई कि जिसे 'प्रियशिष्या ललितेकलाविधौ' होना चाहिए, उसे यदि गुरु के रूप में वरण करना पड़ा, तब तो विपरीत-विपर्य्यय व्यापार हो जायगा। अभी ही, इतने में ही, गृहिणी का इस तरह का प्रचण्ड प्रताप है, बाद को उन्हें केवल गार्हस्थ्य जीवन में ही नहीं, वरन् साहित्यिक-जीवन में भी यदि प्राधान्य

देना पड़ा; तब तो अनर्थ ही हो जायगा। एक तो यों ही उनकी फ़रमाइश का ठिकाना नहीं है, लेकिन भरोसा था कि जब तक साहित्य-चर्चा में मग्न रहूँगा, तब तक उनकी परवा न करूँगा। अब इस क्षेत्र में भी उन्हें इष्टगुरु के स्थान पर बैठालना पड़ा, तब तो उनसे निबटना कठिन है। इस तरह कई ढंग से विषय पर भली भाँति विचार करके मैंने स्पष्ट वाक्यों में कान्ता की उपदेशमयी वक्तृता का प्रतिवाद करना आरम्भ किया।

मैंने कहा—"देखो, तान्त्रिक साधना के ही समान साहित्यिक साधना में भी किसी एक स्त्री, एक 'शक्ति' का प्रयोजन है, यह तुम्हारी बातों से मैं खूब अच्छी तरह समझ गया। परन्तु शास्त्र का मत है कि इन सब क्षेत्रों में स्वकीया की अपेक्षा परकीया-श्रेष्ठ है। स्वकीया-परकीया का विषय छोड़कर इस प्रसंग में मैं यह भी कह सकता हूँ कि जननी-भगिनी आदि के प्रभाव या प्रेरणा से भी स्थान-स्थान पर कवित्व की स्फूर्ति हुई है। तुम अपने मत का समर्थन करने के आग्रह से वर्ड्सवर्थ के ऊपर उनकी पत्नी के प्रभाव को चाहे कितना ही बढ़ाकर क्यों न बतलाओ, किन्तु यह बात तो सभी को विदित है कि उनके कवि-जीवन में सहोदरा कनिष्ठा भगिनी का प्रभाव और प्रेरणा अपरिसीम है। वर्ड्सवर्थ ने इस बात को मुक्त-कण्ठ से बार-बार स्वीकार किया है। उनके मित्र चार्ल्सलैम्ब पर भी सहोदरा ज्येष्ठा-भगिनी का ऋण उल्लेखनीय है! सर फ़िलिप सिडनी ने सहोदरा भगिनी की प्रीतिकामना से आर्केडिया नामक चम्पू-

काव्य की रचना की है। पुस्तक के समर्पण में उन्होंने बहन को Most dear (सब से प्रिय) कहकर सम्बोधित किया है और You desired me to do this, and your desire to my heart is an absolute commandment कहकर बहन के प्रति बहुत घनिष्ट प्रीति का परिचय दिया है। वह काव्य भी उनकी बहन (The Countess of Pembroke's Arcadia) के नाम से युक्त होकर प्रसिद्ध है। कूपर ने अपनी श्रेष्ठ कविता 'माता के चित्रदर्शन में' मातृ-भक्ति की प्रेरणा से ही लिखा है। शेनस्टोन ने अपनी गुरुवानी के प्रति भक्ति से प्रणोदित होकर 'Schoolmistress' नामक खण्ड-काव्य लिखा है। स्काट एक युवती आत्मीया के अनुरोध से अपना Lay of the Last Minstrel लिखने के लिए प्रवृत्त हुए थे। फ़रासीसी भाषा के उपन्यास-लेखक बैलज़ेक, अपनी सहोदरा के उत्साह एवं समवेदना का आधार पाकर ही साहित्य-साधना में प्रवृत्त हुए थे। अँगरेज़ कवि शेली को भी कविता करने की प्रवृत्ति उनकी सहोदरा भगिनी की समवेदना तथा साहचर्य्य से हुई है, किन्तु वे बहुत शीघ्र ही अधिक प्रगाढ़ प्रीति-पात्री पागये थे। सोलह वर्ष की अवस्था व्यतीत होते ही उन्होंने प्रेम-चर्चा आरम्भ कर दी थी।

"परन्तु इस श्रेणी के कवियों की संख्या बहुत थोड़ी है। इसके अतिरिक्त इन लोगों ने ही जब परकीया-प्रेम में लिप्त होकर कविता लिखी है, तब इनकी कविता में इतनी आन्तरिकता

आगई है और उस समय की कविता में इतना माधुर्य्य डाल दिया है कि वह जननी-भगिनी, यहाँ तक कि पत्नी के समय भी देखने में नहीं आता। उदाहरण के निमित्त कूपर की My mary, To mary नामक दो कविताएँ, वर्ड्सवर्थ की लूसी के प्रति लिखी गई कविताएँ, लैम्ब की Hester नामक कविता तथा Anna के प्रति लिखे गये सानेट और व्यर्थ प्रेम की स्मृति के निदर्शन Rosamund Gray नामक कहानी आदि का उल्लेख किया जा सकता है। वायरन ने क्या व्यर्थ ही लिखा है ?—

"Think you if Laura had been Petrach's wife
He would have written sonnets all his life ?"

"फलत: शेक्सपियर से लेकर एंटुनि फ़िरिंगी तक बहुत से कवि इस परकीया प्रेम में ही आसक्त थे। तुम कहती हो कि शेक्सपियर ने वयोऽधिका पत्नी के प्रभाव से प्रभावित होकर अपना पहला काव्य तथा कई मिलनान्त नाटक लिखे हैं, यह मैं अस्वीकार नहीं करता। परन्तु इन सब में तो उन्होंने अपनी आत्मा के अन्तस्तल का भाव व्यक्त किया नहीं। उन्होंने अपने सानेट्स (sonnets) अर्थात् चतुर्दशपदी कविताओं में ही हृदय की निक्षिप्त वेदना को व्यक्त किया है। यह सम्मति कविवर वर्ड्स्वर्थ की है। इस बात में लेश-मात्र भी सन्देह करने का कारण नहीं है कि उक्त कविताएँ परकीया-प्रेम से प्रणोदित होकर ही लिखी गई हैं। व्याख्याकारों ने असाधारण अध्यवसाय

करके उस dark lady के नाम-धाम, जाति तथा व्यवसाय आदि तक की खोज करली है, जिसके कारण वे स्वयं धन्य हो गये हैं, साथ ही शेक्सपियर को भी धन्य कर दिया है।

तुमने कहा है कि स्पेंसर के सानेट्स पत्नी-प्रेम की प्रेरणा से लिखे गये हैं, किन्तु स्पेंसर के प्रधान स्नेह-भाजन और मित्र सर फ़िलिप सिडनी के सानेटों (sonnets) के सम्बन्ध में तो ऐसी बात नहीं कह सकती हो। जिस नारी को लक्ष्य करके सिड्नी ने अपने सानेट्स (sonnets) लिखे हैं, उस नारी के साथ एक बार उनका विवाह हुआ अवश्य था, परन्तु विशेषज्ञों का मत है कि इन सानेट्स का रचना-काल उस नारी के दूसरे की अङ्कशायिनी होने के बाद का है। इधर आदर्शचरित सिड्नी ने परकीया-प्रेम में लिप्त होकर हृदय के अन्तस्तल से कविताएँ लिखी हैं ('Look in thy heart and write, and love doth hold my hand and mokes me write') 'उच्छ्वासों के आवेग में प्रणयिनी को सम्बोधित करके उन्होंने कहा है—

'Stella the only planet of my light,
Light of my life, and life of my desire
Chief good whereto my hope doth only aspire
World of my wealth, and heaven of my delight
If thou praise not, all other praise is shame?

इसके पहले सिड्नी के भगिनी-प्रेम का उल्लेख अवश्य कर चुका हूँ, परन्तु उनका यह परकीया-प्रेम सब से अधिक प्रबल था।

"इसके बाद हैं सानेट के राजा 'फ्रांसिस्को पेत्रार्का-कवि'—हमारे माइकेल ने 'बड़े ही यशस्वी साधु कवि-कुल-धन' कहकर जिनका साधुवाद किया है, परकीया 'लरा' के प्रति सानेट (sonnet) लिखकर चिरस्मरणीय हो गये हैं, यह बात सभी को ज्ञात है। इटली के कवि दान्ते-टैसो के सम्बन्ध में भी साधारण तर से यही एक बात प्रचलित है। इटली के कवियों का अनुसरण करके जितने भी अँगरेज़ कवियों ने सानेट लिखे हैं, उनमें से बहुतों ने ही परकीया-प्रेम की चर्चा में ही इस पथ पर पदार्पण किया है।

"महाकवि-मिल्टन ने अपनी दूसरी पत्नी के देहावसान के बाद केवल एक सानेट लिखकर उसका गुणगान किया है। उसी को लेकर तुम इतना कूद रही हो। परन्तु इसके साथ ही तुम्हें यह भी समझ रखना चाहिए कि पत्नी की मृत्यु के उपरान्त इस प्रकार का भावों का आवेग कितने ही गद्य-पद्य लेखकों को हुआ करता है। (यहाँ गृहिणी चट से बोल उठीं—शायद तुम्हारे जैसे हृदयहीन को भी हो सके। खैर, इस बात को जाने दीजिए।) यह शुद्ध-शील कवि युवावस्था में जब इटली के प्रवास में था, तब लिओनोरा नामक एक गायिका तथा एक अन्य अज्ञातनामा इटालियन सुन्दरी के रूप-गुण पर मुग्ध होकर इसने

जो कविताएँ लिखी हैं, उनका जैसा उद्दाम उच्छ्वास दिवंगता पत्नि के प्रति लिखे गये सानेट में नहीं पाया जाता। भाग्य की बात तो यह है कि वे कविताएँ लैटिन और इटालियन भाषाओं में लिखी गई हैं, इससे मिल्टन के अधिकांश भक्तों को उनका पता नहीं है। यही कारण है कि इस विख्यात कवि के चरित्र पर उनकी श्रद्धा अटूट है। सदाचारी कवि की प्रवृत्ति में इस प्रकार के परिवर्तन का कारण कदाचित इटली की विलासितामय भूमि के जल-वायु का गुण है। इसी लिए तो पक्के स्कूलमास्टर एस्काम (Ascham) इटली के भ्रमण पर इतने नाराज़ थे। युवावस्था में लिखी गई मिल्टन की एक और लैटिन कविता से यह आभास मिलता है कि स्वदेश में भी अल्पकाल के लिए किसी अज्ञात कुलशीला सुन्दरी को देखकर वे प्रेम में विह्वल होगये थे। यह तो यौवन का धर्म ही है। संयमशील मिल्टन भी इसके प्रभाव का अतिक्रमण नहीं कर सके।

"कूपर की My Mary और To Mary नामक दो कविताओं का उल्लेख पहले ही कर चुका हूँ। उनका सुविस्तृत काव्य The Task भी परकीया की प्रेरणा से ही, फ़रमाइश में ही, लिखा गया है, इस बात को उन्होंने निष्कपट-हृदय से काव्य की भूमिका में ही स्वीकार किया है। उसमें उन्होंने लिखा है— The Theme, though humble, yet august and proud Th' occasion—for the Fair commands the song. फिर, रङ्गप्रिया-परकीया के फेर में पड़कर गम्भीर

प्राकृतिक कवि ने किस तरह के विमल हास्यरस का ज्वार भाटा उत्पन्न कर दिया है, यह उनकी रचना John Giplin में प्रकट है। यह भी स्मरण रखना होगा कि उन्होंने प्रथम यौवन में अपनी चचेरी बहन के प्रेम में पड़कर ही कविता लिखने का अभ्यास किया था।"

"वार्न्स और बायरन एक प्रकार से बाल्यकाल से ही प्रेम के पुजारी थे। इसके फल-स्वरूप परकीया प्रेम के प्रभाव से ही इन दोनों महानुभावों की गीति कविता ने अपूर्व माधुर्य्य प्राप्त किया है। बायरन ने इक़रार किया है "My first dash into poetry was as early as 1800. It was the ebullition of a passion for my first cousin Margaret Parker, one of the most beautiful of evanescent beings.' इसके अतिरिक्त अवस्था जब कुछ परिपक्व हुई, तब ये इटली चले गये। वहाँ के प्रवास-काल में ही एक विदेशिनी रमणी का संसर्ग होगया, जिसका बायरन के उत्कृष्ट काव्यों पर ख़ासा प्रभाव पड़ा है। इसी प्रकार कीट्स की कविता पर भी एक रमणी का प्रभाव बहुत ही स्पष्ट भाव से परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त भी कीट्स के और कई एक छोटे उपसर्ग थे। तुम शेली के पत्नी-प्रेम की बात न छेड़ती तभी अच्छा था। क्योंकि यह बात तो किसी से अज्ञात नहीं है कि पहली स्त्री के विवाह-विच्छेद को अच्छी तरह से पक्का किये बिना ही वे दूसरी नायिका के प्रेम में तन्मय होगये।

इन चित्रारोहिणी के सिवा और भी कितनी कुमारी विधवा और सधवाओं ने तारा-रूप से शेली-रूपी चन्द्रमा के हृदयाकाश को उद्भासित कर रक्खा था, इसकी मर्य्यादा नहीं निश्चित की जा सकती। प्रत्येक क्षेत्र में ही उन्होंने प्रेम के प्रभाव में उत्तमोत्तम कविताएँ लिखी हैं, जिनकी रचना के द्वारा उन्होंने अपने हृदय का भार हल्का कर लिया है। सुना है कि फ्रांस के कवि Alfred de Musse प्रायः प्रेम के चक्कर में पड़ा करते थे और वे प्रेम के ही पङ्कमय पथ में चोट खाया करते थे। इस चोट की पीड़ा में ही वे एक काव्य भी लिख डाला करते थे। जान पड़ता है कि इस काव्य-रस से सिंचे हुए प्रलेप से ही उनकी वेदना दूर हुआ करती थी, उनके दो-टूक हृदय में फिर से जोड़ लगा करता था।"

"रूसो का मामला तो बिलकुल ही कहने लायक़ नहीं है। तुमने आख्यायिकाकार के पत्नी-प्रेम की चर्चा की है। परन्तु उनके समकालीन आख्यायिकाकार स्टर्न ने परकीया-प्रीति में संलग्न होकर ही अपूर्व भावप्रवणता का परिचय दिया है। स्विफ्ट ने नीरस होकर भी कुमारी 'स्टेला' तथा 'वेनेसा' के प्रेम की खींचातानी में उत्तम-उत्तम कविताएँ लिख डाली हैं। उनके इस प्रेम को ठीक-ठीक परकीया-प्रेम तो नहीं कह सकते परन्तु यह भी बिलकुल इसी ढंग का है। प्रेम के प्रभाव में सभी कवि थोड़ा-बहुत पढ़े अवश्य थे, किन्तु सभी ने एक-एक शक्ति ग्रहण की थी।"

"जान स्टुअर्ट मिल् कवि तो नहीं थे, किन्तु वे वर्ड्सवर्थ की कविता के समझदार थे। इसलिए वे इस दल में खींचकर मिलाये जा सकते हैं। उन्होंने कविजनोचित भाषा में अपने मित्र की सधवा-पत्नी श्रीमती टेलर (Mrs. Taylor) का ऋण अपने ऊपर स्वीकार किया है। उनके मित्र की वही पत्नी जब विधवा होगई तब दार्शनिक प्रवर ने उसकी वैधव्य यन्त्रणा को दूर करके परकीया को स्वकीया के रूप में परिणत कर लिया, इस प्रकार अन्त में उनके प्रणय की रक्षा होगई। फ़रासीसी उपन्यास-लेखक बैलजेक ने भी ठीक यही कार्य्य किया है। उनकेऊपर उनकी बहन के स्नेह का जो प्रभाव पड़ा था, उससे कहीं अधिक प्रभाव पड़ा था उस परकीया प्रेमिका का, जो अन्त में उनकी स्वकीया हो गई थी। उस महिला तथा अन्यान्य प्रीतिशीला परकीयाओं के प्रभाव से ही उनकी कल्पना-शक्ति का पूर्ण विकास हुआ था।"

"तुमने दूसरे देशवालों की नज़ीर खड़ी की थी, इसीलिए मैंने भी इतने विदेशियों का उल्लेख करके तुम्हारी बात का प्रतिवाद किया। व्यवसाय-सूत्र से देशवासियों की अपेक्षा विदेशियों से ही मेरा परिचय अधिक है, इसलिए इस सम्बन्ध में इतने विस्तार से कह गया। अब विदेशियों के अधिक उदाहरण देकर तुम्हारा धैर्य्य न नष्ट करूँगा। इस बार भारतीय कवियों की ही बात छेड़ता हूँ।"

"कालिदास के ऊपर उनकी स्त्री का जो प्रभाव पड़ा था, उस पर तुमने बहुत ज़ोर दिया है। परन्तु उनके सम्बन्ध में यह

बात जो कही जाती है कि वे कविता लिखने के बाद ही एक मालिन को सुनाया करते थे, मालिन जब तक उस कविता को पसंद नहीं कर लेती थी, तब तक उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी। यह जनश्रुति एकदम से ही नहीं उड़ाई जा सकती। 'न ह्यमूला जनश्रुतिः' अर्थात् जनश्रुतियाँ निर्मूल नहीं होतीं। औरों की बात जाने दो, स्वयं बंकिमचन्द्र ने भी इस बात की पुष्टि की है।* कालिदास की अवाध प्रणयचर्य्या की दो-एक कथाएँ भी हैं, जिनके कारण ऐसा जान पड़ता है कि कालिदास केवल कविप्रतिभा में ही नहीं, वरन् कवि-जीवन के इनसब आनुषंगिक व्यापारों में भी शेक्सपियर के समकक्ष थे।"

"इसके बाद अब बंगला-साहित्य की बारी है। विद्यापति मैथिली भाषा के कवि हैं। परन्तु फिर भी कितने ही प्रसिद्ध समालोचकों ने उन्हें बँगला-साहित्य में बहुत ही सम्मानपूर्ण स्थान दिया है। वे अपने आश्रयदाता राजा शिवसिंह की रानी लखिमा पर आसक्त थे। उसकी आसक्ति से प्रभावित होकर ही वे कविता करने में समर्थ हुए थे। लखिमा के दर्शनमात्र से ही उनके कवित्व का स्फुरण हुआ करता था। अत्र प्रमाण यथा। "लखिमा रूपिणी-राधा इष्ट वस्तु यार। यारे देखि कविता स्फुरये शतधार॥" लखिमा रूपी राधा जिसकी इष्ट वस्तु है और जिसे पढ़कर शतधारा से कविता स्फुरित हो आती है।"

---

*'विषवृक्ष' देखो

"वर्तमान युग में किसी-किसी ने इस किंवदन्ती का प्रतिवाद किया है। परन्तु बहुत से भक्त वैष्णवों का यही दृढ़ विश्वास है।"

"इसके बाद नम्बर आता है प्रेम के श्रेष्ठ कवि चण्डीदास का। प्रेमचन्द रायचन्द वृत्तिधारी मनस्वी स्वर्गीय उमेशचन्द्र वटव्याल कह गये हैं—"नान्नुर के एक अविवाहित ब्राह्मण तथा एक विधवा रजकी में परस्पर प्रेम होगया। उन दोनों ही दरिद्र प्रेमिक-प्रेमिका की चाह के कारण बँगला के साहित्य रूपी उद्यान में एक सुन्दर फूल खिला था। यह 'रजकिनी-रूप किशोरी-स्वरूप' यह 'रजकिनी-प्रेम निकषित-हेम' वाशुली देवी के हाथ के थप्पड़ से भी अधिक प्रभावोत्पादक है, यह क्या फिर बतलाना पड़ेगा? यही कारण है कि 'धोपानी चरण-मार' चण्डीदास ने जी खोलकर गाया है—शुन रजकिनि रामि। ओ दुटि चरण शीतल जानिया शरण लइनु आमि।"

"अब 'मधुरेण समापयेत्।' जिस निधू बाबू के टप्पे सुनकर तुम लोग एकदम से जल जाती हो और तुम्हारे हृदय में इस तरह के भावों के आवेग उत्पन्न होते हैं, कि अपने आप को संभालना कठिन हो जाता है, वे तीन विवाह करके भी दाम्पत्य प्रेम के प्रभाव से नहीं प्रभावित हो सके। उनकी कवि प्रतिभा पर श्रीमती नामक एक वाराङ्गना का प्रभाव पड़ा था। परन्तु यह प्रणय भी चण्डीदास के परकीया-प्रेम के समान ही

निर्मल था—'कामगन्ध नाहि ताय।' यह वाराङ्गना का प्रेम ही उनके टप्पों का उद्गम स्थान है। इधर विरह के कवि रामवसु यज्ञेश्वरी नामकी गायिका के प्रणय में आसक्त थे, यह समाचार भी हम उक्त प्रेमचन्द्री पण्डित के अँगरेज़ी में लिखे गये बँगला-साहित्य के इतिहास से जान सके हैं।"

मुझे आशा है कि अब तुम्हारी समझ में यह बात आगई होगी कि स्वकीया-प्रेम की अपेक्षा परकीया प्रेम ही कवि प्रेरणा के लिए अधिकतर अनुकूल है।"

यह सुविस्तृत व्याख्यान सुनकर गृहिणी किस तरह का काण्डकर बैठीं, यह सब गुप्त बातें प्रकट करके पाठक महानुभावों के हृदय में मैं भय का सञ्चार नहीं करना चाहता। यहाँ इतना कह देना ही यथेष्ट होगा कि मेरी कवि बनने की कामना वहीं की वहीं रह गई, उस दिन के वाद-विवाद का यही परिणाम हुआ। मेरा ठाट-बाट सभी निरर्थक हुआ। चश्मा, लपेटी हुई चूड़ीदार ढाका फ़ैशन की धोती, सिल्क का डुपट्टा—सारी पोशाक की पोशाक ही सत्पात्र को, अर्थात् श्यालक-प्रवर को दान कर देने के लिए वाध्य हुआ। संखिया का ख़र्च तोड़ दिया, 'हेयरकट' के यहाँ जाकर, दूनी दक्षिणा देकर, बालों की तिर्छी क़लम को सीधा करवा लिया। सीधे शब्दों में 'पुनर्मूषिक' होकर विद्यार्थियों को शिक्षा देने में ही अपने ध्यान को अवस्थित किया।

———

३–कृष्णा-कथा

श्रीवृन्दावन की लीला समाप्त हो चुकी है। भगवान श्रीकृष्ण इस समय द्वारका के राजा हैं। अब न तो वे वन-वन में गाय चराते फिरते हैं, न वन के फल खाकर उदर-पूर्ति करते हैं और न वन के फूलों की माला ही गले में डाले फिरा करते हैं। अब यमुना के तटपर कदम्ब के वृक्ष के नीचे बैठे-बैठे समय-समय पर राधा के नाम से सधी हुई वांसुरी बजाकर परकीया नायिका से प्रीति जोड़ने का भी उनका समय नहीं रहा। बाल्य-जीवन की ये सब बातें जहाँ की तहाँ चली गईं। अब तो केवल राजसिंहासन पर बैठकर चमर की हवा खाना और चापलूसों की मन को लुभानेवाली मीठी-मीठी बातों से कर्ण कुहरों को तृप्त करना भर रह गया। इसके सिवा पहर-पहर पर तरह-तरह के चर्व्य, चूष्य, लेह्य और पेय राजभोग सामने लाये जाते हैं। ये कितने ही उत्तमोत्तम। पदार्थ उन्हें भोजन के लिए मिलने लगे। इतनी राजसम्पदा, इतना ऐश्वर्य्य, भोगते-भोगते उन श्रीकृष्ण के मन में, जो एक बाँस की वंशी लेकर गौवों के पीछे भटकते फिरते थे, ज़रा-सी विकार, ज़रा-सा मद-गर्व

नहीं उत्पन्न हुआ. यह बात नहीं कही जा सकती। नर-लीला करते समय देवताओं को भी ज़रा सी दुर्बलता, ज़रा-सा भार्तभ्रंश तो आ ही जाता है।

द्वारका के प्रजाजन राजभक्ति के उच्छ्वास से नये राजा का जन्मोत्सव मनाने का आयोजन कर रहे थे। घर-घर तरह तरह के आमोद आह्लाद, तरह-तरह के आनन्द-उत्सव हो रहे थे। ठीक उसी समय भगवान श्रीकृष्ण ने आदेश किया कि एक बहुत बड़े भंडारे का आयोजन किया जाय। उस भण्डारे का प्रबन्ध ऐसे उत्तम ढंग से किया जाय कि संसार के सभी प्राणी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भोजन पाकर अपनी बुभुक्षा शान्त कर सकें। चौबीस पहर तक यह बृहत् अन्नसत्र, यह अन्नकूट महोत्सव, ज़ारी रहे। ख़ूब मुट्ठी खोल कर ख़र्च करो। हमारे राजकोष में अभाव किस बात का है?

श्रीकृष्ण की आज्ञा पाते ही राजकर्मचारियों ने बड़ी शीघ्रता से सारी व्यवस्था कर दी। सुवर्ण के रथ पर समारूढ़ होकर भगवान् स्वयं उस सुविशाल-अन्नक्षेत्र का परिदर्शन करने के लिए गये। देवता भी द्वारकाधीश का अतुलित विभव देखने के लिए स्वर्ग से चल पड़े। देवराज इन्द्र के मन में कनिष्ठ काऐश्वर्य्य देखकर ईर्ष्या का सञ्चार हुआ या नहीं, यह कौन जान सके?

अन्नसत्र में पृथिवी के समस्त जीवों के प्रवेश करने का समय आगया। इतने में गरुड़ भी स्वर्ग से आ उतरे। सत्र के द्वार पर खड़े होकर उन्होंने भीतर प्रवेश करने की अनुमति चाही।

आज तो सभी निमन्त्रित थे किसी के लिए किसी प्रकार की रुकावट थी नहीं, फिर भला गरुड़ के प्रवेश करने में कौन-सी वाधा हो सकती थी? धीरे-धीरे वे सत्र के भीतर पहुँच गये। वहाँ ढेर के ढेर उत्तमोत्तम खाद्य पदार्थ सजा-सजाकर रक्खे हुए थे। गरुड़ ने तीन ग्रास में ही सारा सत्र सूना कर दिया; सारा भोजन चट कर गये। देवतागण भी गरुड़ का यह कार्य्य विस्मित भाव से देखते रह गये। सत्र के कर्मचारियों ने किंकर्तव्यविमूढ़ होकर राजा को इस घटना की सूचना दी।

यह एक ऐसी बात थी, जिसकी श्रीकृष्ण ने कल्पना तक न की थी। अतएव समाचार पाते ही रथ पर आरूढ़ होकर वे अन्न के क्षेत्र में जा पहुँचे। बहुत दिनों के बाद गरुड़ को देखते ही उन्हें वैकुण्ठ की याद आगई। भगवान् का मन चञ्चल हो उठा। मानुषी माया से अभिभूत होने के कारण उनके नेत्रों से आँसुओं की धारा बह चली। महाभक्त गरुड़ भी प्रभु को पाकर हर्ष से गद्गद् हो उनके चरणों पर लोट पड़े। कुछ समय इसी तरह वीत गया। भक्त और भगवान् दोनों ही भावों के आवेग से अचेत थे। किसी के आँखों की पलक नहीं उठी। मुहूर्त भर के बाद अन्न से शून्य थालियों की ओर भगवान् की दृष्टि गई। वे बोल उठे, 'हे गरुड़, तुमने यह क्या कर डाला? मैंने जगत् के समस्त जीवों को निमन्त्रित कर रक्खा है, भोजन का समय भी आगया, अतिथि बुभुक्षित होकर द्वार पर खड़े हैं, मैं भला अब किस तरह उनकी क्षुधा निवृत्त कर सकूँगा?

मुझे बड़ा पाप होगा, मेरे इस "करुणामय" नाम में कलङ्क लगेगा।'

श्रीकृष्ण के ये दीन-वचन सुनकर गरुड़ बोले—हे प्रभु, आप विचलित न हों। नरलोक में वास करते-करते आप की निर्मल सात्विक प्रकृति पर रजोगुण की कुछ छाया पड़ती जा रही थी, राजभोग से प्रमत्त होकर आप का हृदय विषय-मद से आच्छादित हुआ जा रहा था, अतुलित विभव का प्रदर्शन करके गौरव प्राप्त करने की आकांक्षा से आपने इस महायज्ञ का आयोजन किया था, इसीलिए मैंने आप को यह दिखलाया है कि प्रार्थिव सम्पदा कितनी अकञ्चितकर है। वास्तविक अतिथि सत्कार में व्याघात न पड़े, इसका मैं उपाय किये देता हूँ।

भगवान् से ऐसा कहकर गरुड़ ने अपने दोनों विशाल पंखों को फैलाया और वे आकाश-मार्ग में उड़ गये। क्षणभर में ही चन्द्रलोक से अमृत-भाण्ड लाकर वे गगनतल से अमृत की वर्षा करने लगे। इस भूतल में जितने भी प्राणी बुभुक्षित थे, वे सभी परितृप्त होगये। क्षुधा, तृष्णा, श्रान्ति, अवसाद, सभी कुछ दूर होगया। भगवान् ने आनन्द से विह्वल होकर गरुड़ को छाती से लगा लिया।

इसके बाद कुछ दिन और व्यतीत हुए। भगवान् अपनी सोलह हज़ार रानियों को लेकर विहार कर रहे थे। परन्तु उनके मन में शान्ति नहीं थी। रानियों का मान-अभिमान, लड़ाई-झगड़ा और ईर्ष्या-द्वेष समय-समय पर प्रबल हो उठता।

उस अशान्ति के समय केवल अचला-लक्ष्मी के सदृश रुक्मिणी और सत्यभामा की निष्काम सेवा एवं पतिभक्ति से उनके चित्त की चञ्चलता दूर हुआ करती थी। जिस समय हृदय नितान्त ही अशान्त हो उठता, उस समय वे पुरी की वाटिका में फूल चुना करते और उद्विग्न भाव से भ्रमर और भमरी का गुञ्जन सुनते। उन दम्पति का प्रेमाभिनय देखते-देखते व्रज की सारी लीलाएँ श्रीकृष्ण की आँखों के सामने नाचने लगतीं। रुक्मिणी और सत्यभामा किसी झुरमुट की आड़ में छिपकर पति का यह भाव देखा करतीं, समीप आने का साहस उन्हें न होता। भगवान् के मन में कितनी बार यह बात आई कि दैवी-शक्ति प्रकट करके रानियों को स्तम्भित कर दूँ, किन्तु यह सोचकर कि ऐसा करने से कहीं रजोगुण का विकाश न हो उठे, वे शान्त हो जाते। गरुड़ ने जब उन्हें शिक्षा दी थी, उसके बाद से श्रीकृष्ण ने अपने अन्तःकरण से राजसिक भाव को एकदम से ही उन्मूलित कर दिया था।

एक दिन श्रीकृष्ण से अपनी सोलह-हजार रानियों के नाज़ नखरे न सहे गये। राजप्रासाद से आकर वे पुष्पवाटिका में इधर-उधर टहलने लगे। श्रीकृष्ण मुग्ध दृष्टि से प्रकृति की शोभा देख रहे थे, इतने में उनकी दृष्टि एक भ्रमर-दम्पती पर पड़ी। उस समय उन दोनों में प्रणय-कलह का सूत्रपात हुआ था। प्रणयिनी कुपिता सर्पिणी के समान गरज रही थी, प्रणयी तटस्थ थी। भगवान् ने एक लम्बी साँस लेकर मन ही मन

सोचा—हाय, जिस माया-जाल में मैं फँसा हूँ, उसी में यह ज़रा सा कीड़ा भौंरा भी बँधा है। देखें, इन दोनों की क्या दशा होती है ?

भौंरा कुछ देर तक चुप्पी साधे ताकता रहा, इधर उसकी प्रणयिनी का स्वर क्रमशः पञ्चम से सप्तम होता गया। तब भौंरे ने यह बात अच्छी तरह से हृदयङ्गम कर ली कि पुरुपोचित-परुष भाव का अवलम्बन किये बिना भ्रमरी की यह प्रवृत्ति न रुकेगी, इसका रोष बढ़ता ही जायगा। मन में यह ठानकर उसने त्योरी बदली, क्रोध के मारे आखें लाल-लाल करके बहुत ही कर्कश स्वर से वह बोल उठा—क्या तू यह नहीं जानती कि मैं मनुष्य के समान दुर्बल द्विपद नहीं हूँ। निर्बोध पशुओं के समान चतुष्पद भी नहीं हूँ। मैं षट्पद हूँ। यदि इच्छा करूँ तो अपने इन पैरों के आघात से पृथिवी को रसातल में भेज सकता हूँ। तू अबला स्त्री जाति होकर मुझे बल प्रदर्शित करने का साहस करती है ? भ्रमर की ये बातें सुनते ही भ्रमरी की बोलती बन्द होगई। अब उसके मुँह में उस तरह की तेज़ी न रह गई। वह सुड़सुड़ करके भ्रमर की बाईं बगल आकर बैठ गई और मधुपान में प्रवृत्त हुई।

भगवान् इस तरह की 'बह्वारम्भे लघु क्रिया' देखकर दङ्ग रह गये। उन्होंने बड़े ही प्यार से भृङ्गराज को अपनी कनिष्ठा उँगली पर बैठाया। एकान्त में भ्रमर को ले जाकर उन्होंने पूछा कि तुमने अभी भ्रमरी को जो भय-प्रदर्शन किया है, क्या वैसा

करने की तुम में सचमुच क्षमता है? भ्रमर ने हाथ जोड़कर मृदु-स्वर से कहा—हे प्रभु, मेरा बल या निर्बलता क्या आप से छिपी है? परन्तु करूँ क्या! इस तरह के उपचार का आश्रय लिये बिना तो मान-भञ्जन होता नहीं। शायद शास्त्रकारों ने भी तो कहा है कि इस तरह की मिथ्या-बात बोलने में कोई पाप नहीं है। भगवान ने मुस्कराकर भृङ्गराज को छोड़ दिया। वह उड़कर भ्रमरी के पास जा बैठा।

यह घटना देखकर एक बार श्रीकृष्ण के मन में यह बात आई कि इस उपाय का अवलम्बन करके मैं भी तो कलत्रवर्ग को वशीभूत कर सकता हूँ। मेरे लिए इस तरह का भय प्रदर्शन मिथ्याचरण भी न होगा। परन्तु इसके बाद ही उन्होंने फिर सोचा—नहीं, ऐसा करना ठीक नहीं है, क्योंकि यह तो रजोगुण की क्रिया है, इस तरह के विचार को मन में स्थान न दूँगा। पुरुषोचित धैर्य्य के साथ अशान्ति का सहन करता रहूँगा, चित्त को स्थिर रखना ही सत्त्व गुण का प्रकृत लक्षण है।

रुक्मिणी और सत्यभामा किसी चीज़ की आड़ में छिपी हुई इस घटना को देख रहीं थीं। उन लोगों ने एक मतलब गाँठने के विचार से वस्त्र के अञ्चल से भ्रमरी को उड़ाया और घर के भीतर ले आईं। यहाँ आने पर दोनों सखियों ने मिल कर बड़े यत्न से भ्रमरी से पूछा कि अपने प्रणयी की इस तरह की डाँट फटकार सुनकर तुम इतना क्यों डर गई हो कि तुम मुँह तक नहीं खोल सकी हो? क्या तुम यह सचमुच विश्वास

करती हो कि वह अपनी वीरता के कारण पैर के एक आघात से ही इस सुविशाल पृथिवी को रसातल में भेज देगा।

रुक्मिणी और सत्यभामा की बातें सुनकर भ्रमरी मुस्कराने लगी। उसने विनीत भाव से कहा—महारानी, क्या मैं यह नहीं जानती कि भृङ्गराज केवल मुँह चलाने में तेज़ हैं? परन्तु यह सब जान-बूझकर भी चुप रह जाती हूँ। आप लोग भी तो घर-गृहस्थी में रहती हैं। आप क्या यह नहीं जानती कि पुरुष से हार माने बिना बहुत परेशान होना पड़ता है?

भ्रमरी की बात सुन कर रुक्मिणी और सत्यभामा हँस पड़ीं। उन्होंने कहा—अच्छा, एक काम करना। इस बार भ्रमर यदि तुम्हें डाँटे तो कह देना कि तुमसे जो करते बने, करो। तब हम लोग ज़रा-सा तमाशा देखेंगी। भ्रमरी ने मस्तक हिलाकर अपनी स्वीकृति प्रकट की और वह वहाँ से उड़ गई।

झगड़ा मचाने में भ्रमरी संसार में एक थी। एक मुहूर्त भी न बीत पाया होगा कि फिर वही प्रणय-कलह आरम्भ होगया। उसी तरह का जवाब-सवाल, उसी तरह का गर्जन-तर्जन और उसी तरह का द्वन्द्व आरम्भ हो गया। यथा समय भ्रमर ने फिर उसी तरह भय-प्रदर्शन किया। भ्रमरी ने भी रुक्मिणी और सत्यभामा की शिक्षा के अनुकूल वैसा ही सांघातिक उत्तर दिया। भ्रमर तो यह बात सुनते ही मानो एकदम से आकाश पर से गिर पड़ा। और कोई उपाय न देखकर वह सीधे

श्रीकृष्ण के पास गया और उनके चरणों पर लोट कर अपना दुख कह सुनाया।

लीलामय चिन्ता में पड़ गये। उन्होंने सोचा कि यदि भ्रमर के हठ की रक्षा न हो सकी तो पुरुषोचित गौरव सदा के लिए नष्ट हो जायगा। भविष्य में फिर स्त्रियाँ स्वामी की बात न सुनेंगी। घर-गृहस्थी का चलाना बहुत कठिन हो जायगा। उन्होंने इस आपत्ति के उद्धार के निमित्त गरुड़ को स्मरण किया।

गरुड़ ने भगवान् के श्रीचरण-कमलों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया और वे हाथ जोड़कर बोले—हे प्रभो, दास को आज किस लिए स्मरण किया है?

श्रीकृष्ण ने गरुड़ से सारा हाल कह सुनाया। तब गरुड़ ने पूछा कि इस सम्बन्ध में मुझे क्या करने की आज्ञा है? श्रीकृष्ण ने कहा कि भ्रमर जब भूमि पर पहली बार पदाघात करे, तब तुम द्वारकापुरी को रसातल में भेज देना और इसके दूसरी बार पदाघात करने पर इस पुरी को फिर यथास्थान कर देना। ऐसा करने से ही मेरा अभीष्ट सिद्ध होगा। गरुड़ ने ऐसा करना स्वीकार कर लिया।

भ्रमर को अब बल मिल गया। हिम्मत बाँधकर भ्रमरी के पास वह फिर गया और दुबारा झगड़ा छेड़ दिया। नाक-भौं चढ़ाकर उसने कहा—तेरी इतनी धृष्टता! तू मुझ से बराबर ज़बान लड़ाती जायगी। देख, अभी मैं क्या करता हूँ! बड़े

तीव्र स्वर से यह बात कहकर उसने भूतल पर जोर से पदाघात किया। उसी क्षण प्रत्येक वृक्ष के कुसुम-किशलय काँप उठे। गरुड़ तो तैयार थे ही, द्वारकापुरी रसातल को भेज दी गई। आर्त नर-नारियों के कोलाहल से दिग्वलय मुखरित हो उठा। भ्रमरी ने भयभीत होकर आकुल कण्ठ से भ्रमर से कहा—'क्रोधं प्रभो संहर संहर'।

भ्रमरी की इस बात से शान्त होकर भ्रमर ने भूमि पर दुबारा पदाघात किया। उसका चरण उठ भी न पाया था कि गरुड़ ने रसातल से द्वारकापुरी का उद्धार करके उसे फिर यथास्थान रख दिया। इस प्रकार भ्रमर और भ्रमरी का कलह शान्त हुआ।

इधर प्रणय के व्यापार में श्रीकृष्ण की सोलह-हजार रानियों का मुँह डर के मारे पीला होगया। वे सब थर-थर काँपने लगीं और आर्तनाद करते-करते 'विपत्तौ मधूसूदनम्' स्मरण करके श्रीकृष्ण की ओर आश्रय की भिक्षा के निमित्त दौड़ीं। मार्ग में रुक्मिणी और सत्यभामा से मुलाक़ात हुई। उन्हें देखते ही समस्त रानियाँ समान स्वर से बोल उठीं—दीदी, यह क्या सर्वनाश हुआ? विना मेघ के ही कैसे वज्रपात हुआ?

रानियों की यह व्याकुलतामय बात सुनकर रुक्मिणी और सत्यभामा ने गम्भीर स्वर से कहा—तुम लोग क्या यह नहीं जानती हो कि भ्रमरी के कलह से भ्रमर का मन क्षुब्ध हो गया

था, इससे प्रभु इस सृष्टि को रसातल में भेज देने के लिए तत्पर होगये ? बाद को भ्रमरी ने जब पश्चात्ताप किया तब उसके अनुरोध करने पर उन्होंने अपने क्रोध का संवरण कर लिया। क्या तुम्हें यह नहीं ज्ञात है कि पति-पत्नी में अप्रीति हो जाने पर सृष्टि रसातल को चली जाती है ?

रुक्मिणी और सत्यभामा की बातें सुनकर सोलह-हज़ार रानियाँ एक दूसरे का मुँह ताकने लगीं। सभी के हृदय में एक ही बात थी। वह बात यह थी कि हम सब लोग प्रतिदिन ही प्रभु के साथ कलह किया करती हैं। धन्य है उनका प्रेम कि वे हमारे इस कलह को सहन कर लिया करते हैं। हाय, हम सब आज तक इस तरह का उदार प्रेम, इस तरह की धैर्य्यशीलता एवं क्षमाशीलता का मर्म नहीं समझ सकीं। यह सोचकर वे बहुत ही अनुतप्त भाव से परमप्रभु के चरणों से लिपट गईं और बहुत ही करुण स्वर से बोलीं—हे प्रभु, हम सब ज्ञान-हीन स्त्रियाँ हैं। क्षमा कीजिए। हम सब अब फिर कभी आप के साथ कलह करके आपके प्रशान्त सागर-सदृश हृदय को संक्षुब्ध न करेंगी।

श्रीकृष्ण विस्मित-भाव से ताकने लगे। उन्होंने देखा कि रुक्मिणी और सत्यभामा सामने मुस्कराती हुई खड़ी हैं। आँख के इशारे से क्या बात-चीत हुई, यह नहीं मालूम है। 'भावग्राही जनार्दन' सब समझ गये। समझकर उन्होंने अनेक बाहु और मुख धारण करके प्रसन्न मन से उन सोलह हज़ार रानियों को अपने बाहुओं से एक साथ ही आबद्ध कर लिया और प्रीति के

चिह्न स्वरूप उन सब के विम्बाधरों पर प्रणय-चुम्बन भी दिया। वे सब सोलाह हज़ार रानियाँ आनन्द के अतिरेक से पुलकित हो उठीं।

परमसती रुक्मिणी और सत्यभामा तथा परमभक्त गरुड़ अनिमेष दृष्टि से लीलामय की यह लीला देखने लगे। आनन्द के मारे उन सब का चित्त बहुत ही प्रफुल्लित हो उठा। देवता भी स्वर्ग से यह मधुर दृश्य देखकर हर्ष से आकुल हो उठे। आकाश से पुष्पों की वर्षा हुई, दिङ्मण्डल प्रसन्न हो गया, मृदु-मन्द समीरण बहने लगा—'दिशः प्रसेदुः मरुतो ववुः सुखाः।' भगवान् के चिदाकाश पर सात्त्विक भाव का पूर्ण विकाश हो जाने पर संसार-आनन्दमय हो उठा—कलह, विवाद, राग-द्वेष, मान-अभिमान सब संसार से तिरोहित हो उठे। गरुड़ ने हाथ जोड़-कर कहा कि हे प्रभु, हृदय की कामना पूर्ण हो गई। इतने दिनों में आपकी सात्त्विकी-प्रकृति के प्रभाव से मैं मर्त्यलोक को शान्तिमय एवं सुधामय देख सका, आप का जयजयकार हो। हे इच्छामय, आपकी इच्छा से आज से संसार में चिर-दिन तक शान्ति विराजमान रहे। यह प्रार्थना करके गरुड़ ने विनयपूर्वक प्रभु से बिदा ली और वैकुण्ठ के लिए प्रस्थान किया। भगवान् सोलह-हज़ार रानियों तथा रुक्मिणी और सत्यभामा को लेकर, बड़े ही सुख से समय व्यतीत करने लगे।

श्रीकृष्णचरितं ह्येतद् यः पठेत् प्रयतः शुचिः।
शृणुयात् वाऽपि यो भक्त्या-गोविन्देलभते रतिम्॥

———

४—आलोक

उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी की राष्ट्रीय प्रतिभा के मूर्त अवतार गेटे (Goethe) के चर्मचक्षुओं में जिस समय जगत् का आलोक अस्तमित हो आया था, उस समय उन्होंने अन्तिम निःश्वास के साथ क्षीण-कण्ठ से कहा था—आलोक, आलोक और भी आलोक (Light, light, more light) और आज बीसवीं शताब्दी में जर्मनी की राष्ट्रीय प्रतिभा के मूर्त अवतार कैसर (Kaiser) वज्रनिर्घोष से कह रहे हैं—अन्धकार, अन्धकार, और भी अन्धकार! गथिक् (Gothic) बर्बरता, अमानुषिक निष्ठुरता तथा पैशाचिक विजय और हिंसा की कामना के नारकीय अन्धकार में समस्त पृथिवी को डुबा दो।"

बाइबिल में वर्णन किये गये सृष्टिप्रकरण (Genesis) में लिखा है कि परमेश्वर के आदेश से, अन्धकार से जब आलोक का उद्भव होता है, तभी सृष्टि की प्रक्रिया का श्रीगणेश होता है—'Let there be light and there was light.' हमारे शास्त्र में लिखा है—आसीदिदं तमोभूतम् ततः स्वयम्भू-र्भगवान् प्रादुरासीत्तमोनुदः। (यह समस्त ब्रह्माण्ड अन्धकारमय

था; तब भगवान् ने अवतार धारण करके उस अन्धकार को दूर किया) (मनुसंहिता, १ अध्याय, ५। ६ श्लोक)। 'तम आसीत् तमसा गूढ़मग्रे' इति श्रुतिः ॥

गेटे की मृत्युकालीन उक्ति तथा बाइबिल के सृष्टितत्त्व की आध्यात्मिक व्याख्या की गई है। इस व्याख्या में आलोक ज्ञान के रूप में और अन्धकार अज्ञान के रूप में गृहीत हुआ है अर्थात् अज्ञान ज्ञान के आलोक से तिरोहित होता है—'तमः सूर्य्योदये यथा' (अर्थात् जैसे सूर्य्य के उदय होने पर अन्धकार)। इस व्याख्या के अनुसार, 'अज्ञान-तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन-शलाकया चक्षुरुन्मीलितं येन' (अज्ञान-रूपी अन्धकार से मनुष्य अन्धा हुआ है, उसकी आँखें ज्ञान-रूपी अञ्जन की शलाका से जिसने खोलदी है) उन्हीं जगद्गुरु श्रीभगवान् ने आसन्नमरण ज्ञानभिक्षु जर्मन कवि गेटे की रसना पर आविर्भूत होकर वैदिक ऋषि की उदात्त प्रार्थना उनके मुँह से निकलवाई थी—असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय। मुझे असत् से सत् की ओर और अन्धकार से ज्योति की ओर ले जाओ। इस आध्यात्मिक अर्थ को ही हृदयङ्गम करके एक कवि ने अपनी कविता में कहा है—तुम अन्धे को उजाला देते हो और मृत शरीर में प्राण का सञ्चार करते हो। इस भाव के भावुक होकर ही शास्त्र-विश्वासी हिन्दू कहते हैं—

"अनेक संशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शनम् ।
सर्व्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः ॥"

अर्थात्—अनेक संशयों को नष्ट करनेवाला और परोक्ष अर्थ का प्रदर्शक शास्त्र ही सब का नेत्र है। जिसके पास यह नेत्र नहीं है, अर्थात् जिसने शास्त्र का अभ्यास नहीं किया, वह अन्धा है।)

विशेषकर जो शास्त्र इस सत्य-ज्ञान का आलोक प्रदान करता है, उसी को हमारी देव-भाषा में दर्शन-शास्त्र कहते हैं, क्योंकि प्रकृतदर्शन और सत्यज्ञान दोनों अभिन्न हैं।

जो भी हो, हम इस गम्भीर आध्यात्मिक व्याख्या को छोड़कर सरल और स्वाभाविक अर्थ में ही 'प्रकाश' शब्द को ग्रहण करेंगे, शिक्षा-व्यवसायी होकर भी इसके द्वारा शिक्षा का प्रकाश न समझकर शिखा अर्थात् बत्ती का ही प्रकाश समझेंगे।

आकाश में सूर्य्य, चन्द्रमा, तारागण, धूमकेतु, उल्का तथा विजली आदि, भूमण्डल पर खद्योत आदि पतङ्ग तथा तृण-ज्योतिः आदि उद्भिद्, स्वाभाविक उपाय से आलोक की किरणें विकीर्ण किया करते हैं। इसी प्रकार सागर के जल में भी (Phosphorescent) ज्योतिष्मान् कीट-पतङ्गों तथा उद्भिदों का अस्तित्व देखने में आया है। निर्जन मैदानों में भी लूकाबेली भूमि का उजाला पथिकों को विभ्रान्त एवं विडम्बित किया करता है। वन का दावानल एवं समुद्र का वड़वानल भी आकस्मिक आलोक का उत्पादन किया करता है। यह भी सुना जाता है कि उल्का के आलोक में शेक्सपियर के ब्रूटस पत्र पढ़ सके थे, परन्तु इसके द्वारा संसार के और किसी भी प्राणी का कोई उपकार होते नहीं

सुना गया। बल्कि उल्का के गिरने से मनुष्य के मन में एक प्रकार के आतङ्क की सृष्टि होती है, साथ ही भावी अमङ्गल की भी सूचना मिलती है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि ये उल्काएं विश्वामित्र के द्वारा सृष्ट जगत् के ध्वंसावशेष हैं, विश्वामित्र की उच्च आशा के समान ही रह-रहकर ये अपने स्थान से च्युत हो जाया करती हैं। क्षण-प्रभा के क्षणिक आलोक में प्रेमिका वसन्त-सेना या प्रेमप्रवण जगत्सिंह विद्युद्दीप्ति-प्रदर्शित पथ में किसी प्रकार चल तो सके थे अवश्य, परन्तु उस आलोक पर उतना भरोसा नहीं होता। यही कारण है कि अभिसारिका वसन्तसेना ने आक्षेप किया था—अयि विद्युत् त्वमपि प्रमदानां दुखं न जानासि। (ऐ बिजली, तू भी प्रमदाओं के दुःख को नहीं जानती।) वास्तव में मेघमाला की बिजली की चमक में आलोक की मनोहरता की अपेक्षा वज्रपात का मारात्मकत्व ही अधिक प्रकट होता है। धूमकेतु का आविर्भाव यदा-कदा ही हुआ करता है, और इससे मनुष्य का कोई भी उपकार नहीं होता। बल्कि जब कभी अकस्मात् इसका आविर्भाव हुआ है तब मनुष्य के हृदय में तरह-तरह के आतङ्क की ही सृष्टि हुई है, भावी विपत्ति की आशङ्का से मनुष्य का मन अभिभूत हो गया है। फलतः पृथिवी-तल की लूकाबेली की भूमि तथा आकाश-मण्डल की विद्युत्, उल्का और धूमकेतु दावानल, बड़वानल तथा जल एवं स्थल में निवास करनेवाले ज्योतिष्मान् कीटपतंगों तथा उद्भिदों ने आलोक का वितरण करके

मनुष्य के जीवन का पथ सुगम किया है, यह नहीं कहा जा सकता।

इसके विरुद्ध सूर्य्य, चन्द्रमा तथा तारागण सृष्टि के आरम्भ-काल से ही प्रकाश प्रदान करके मनुष्य का उपकार करते आ रहे हैं। बाइबिल के सृष्टि प्रकरण में यह बात स्पष्ट शब्दों में लिखी है कि 'सूर्य्याचन्द्रमसौ' (सूर्य्य और चन्द्रमा) मनुष्य को प्रकाश प्रदान करने के लिए ही जीहोवा के द्वारा नियुक्त किये गये हैं—The greater light to rule the day and the lesser light to rule the night. अर्थात् दिन का भार बड़े प्रकाश—सूर्य्य—पर निर्भर है और रात का भार—छोटे प्रकाश—चन्द्रमा पर। परन्तु जीहोवा के द्वारा निर्दिष्ट किये गये इस श्रम-विभाग (division of labour) में ज़रा सी त्रुटि है। जब कि हम जीहोवा के उपासक यहूदी नहीं हैं, तब इस बात को बिलकुल ही निर्भय होकर कह सकते हैं।

सूर्य्यदेव का शरीर लोहे का (Iron constitution) है, उनके स्वास्थ्य में भी ज़रा भी गड़बड़ नहीं है, साथ ही उनकी शक्ति असीम एवं कर्त्तव्य-बुद्धि असाधारण है। वे सवेरे ठीक घड़ी के ही अनुसार अपनी 'ड्यूटी' पर हाज़िर होते हैं, कभी 'लेट' या ग़ैरहाज़िर नहीं होते। जिस दिन बादल घिरे रहते हैं, कुहरा पड़ता रहता या पानी बरसता रहता है, उस दिन वे ज़रा सा लुकाछिपी तो खेलते ज़रूर हैं, परन्तु मतलब भर का प्रकाश देने से मुँह नहीं मोड़ते। परन्तु जिस दिन दुरन्त राहु उनका

सर्व्वग्रास कर लेता है, उस दिन इच्छा करने पर भी पृथिवी पर उजाला पहुँचाने में वे असमर्थ हो जाते हैं। यह तो विधाता का फेर है, इसमें उनका हाथ ही क्या है ?

परन्तु चन्द्रदेव का कार्य्य इतना खरा नहीं है। क्षय-रोग से वे ग्रस्त हैं, उनका स्वास्थ्य भी असन्तोषजनक (delicate health) है, कर्तव्य-बुद्धि भी इस तरह सजग नहीं है। जैसा कि जीहोवा का बन्दोवस्त है, सूर्य्यास्त के समय बड़े भाई से दिन भर का हिसाब-किताब समझकर, यानी बाक़ायदा 'चार्ज' लेकर उन्हें रिलीव करना चाहिए और सूर्य्योदय के समय ठीक-ठीक 'चार्ज' देकर उन्हें अपने घर जाना चाहिए। परन्तु पहरेदार की सी कड़ी ड्यूटी ये महीने भर में दो दिन भी देते हैं या नहीं, इसमें संदेह है। चालबाज़ क्लर्क की तरह देरी करके आफ़िस में आने और टाइम पूरा होने से पहले ही आफ़िस से रफ़ूचक्कर हो जाने का इन्हें बेतरह रोग है। परन्तु इनमें यदि कुछ गुण है तो वह यह है कि दोनों ओर की रक्षा करने में असमर्थ होने पर भी ये एक ओर की रक्षा करते हैं। जिस दिन ये देर को काम पर आते हैं, उस दिन अन्त तक रहते हैं और जिस दिन अन्त के समय गायब होने की इच्छा होती है, उस दिन ख़ूब सबेरे-सबेरे काम में लग जाते हैं। क्लर्क-शिरोमणि चार्ल्स लैम्ब* के

*'You are late Mr. Lamb.' Yes, but I always make it up by going away early. यह एक बाज़ारू बात है। वास्तव में लैम्ब आफ़िस के कार्य्य में असावधानी नहीं करते थे।

समान या शङ्ख की कटान के समान दोनों सिरों पर कटाव करने की आदत इनकी नहीं है। वैज्ञानिकों ने चन्द्रमा की इस बदनीयती के निदान का निर्णय किया है, परन्तु हम लोग इतना अधिक तो समझते नहीं! हमारी स्थूल-बुद्धि इसका केवल इतना ही अर्थ ग्रहण करती है कि कुलीन ब्राह्मण के समान बहुपत्नीक होने के कारण ही ये अपनी नौकरी खूब अच्छी तरह से नहीं बजा पाते। बङ्किमचन्द्र के स्त्रैण श्रीशचन्द्र तो एक स्त्री लेकर ही सदा अच्छे ढंग से अपनी नौकरी नहीं निभा सके! तिस पर भी यदि बादल घिरे रहे या बूँदा-बाँदी होती रही, तब तो कुछ कहना ही नहीं है। ऐसी अवस्था में सूर्य्यदेव की तो कुछ झलक मिलती है, किन्तु चन्द्रदेव एकदम से छिपे ही रह जाते हैं। ग्रहण का सर्वग्रास हो जाने पर अवस्था और भी सङ्गीन हो जाती है। मतलब सिर्फ़ इतना है कि ये जीहोवा के बन्दोबस्त के मुताबिक ठीक-ठीक ड्यूटी नहीं देते। इसमें शैतान की कारसाजी है या नहीं, यह तो वे ही लोग बतला सकेंगे, जो बाइबिल का मर्म समझते हैं। जो भी हो, सत्ताईस ताराओं के कारण उन्हें इतनी ही सुविधा है कि जिस दिन ये 'सिक रिपोर्ट' (Sick Report) करके ग़ैरहाज़िर होते हैं, उस दिन इनकी पत्नियाँ या उन पत्नियों की सखियाँ चन्द्रदेव का काम बहुत कुछ सँभाल लेती हैं। (जिस तरह योरप के महायुद्ध के समय इंग्लैंड तथा फ्रांस आदि देशों के पुरुष समर-भूमि में जाते थे और देश में रहकर स्त्रियाँ पुरुषों के स्थान पर

कार्य्यं किया करती थीं।) परन्तु इन क्षीणाङ्गिनियों में बल ही कितना है कि ये चन्द्रदेव के स्थान की पूर्ति कर सकें! इसीलिए तो चाणक्य पण्डित कह गये हैं—"एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणैरपि। अर्थात् एक ही चन्द्रमा अंधकार का नाश कर देता है, किन्तु ताराओं का समूह नहीं।

एक बात और है। सूर्य्य का प्रकाश प्रदीप्त एवं प्रभामय होता है; जिस पर पड़ता है, वही हँसने लगता है। इसलिए दिन के समय अन्धकार का भय नितान्त ही अफ़ीमची के अतिरिक्त और किसी को नहीं होता। परन्तु रात के समय चन्द्रमा और ताराओं पर पूरा-पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता। एक तो यों ही ताराओं के आविर्भाव एवं तिरोभाव आदि का तरह-तरह का खटका रहता है, तिसपर उनकी ज्योति बहुत ही क्षीण होती है। जर्मनी के सस्ते माल की तरह पर कार्यरूप में उनकी उपयोगिता इतनी नहीं होती, ऊपरी तड़क-भड़क ही ज्यादा होती है। उस आलोक में पुलकित होकर कविता लिखी जा सकती है, परन्तु उससे संसार का प्रयोजन नहीं सिद्ध होता। बंकिमचन्द्र की भाषा में यह कहा जा सकता है कि वह आलोक सुविमल, सुमधुर, सुशीतल होता है; किन्तु उससे गृहकार्य्य नहीं होता। वह इतना प्रखर नहीं होता, साथ ही दूर से उस प्रकाश का उद्गम होता है। यही कारण है कि सभ्यता के प्रथम सोपान पर पैर रखते ही मनुष्य ने रात्रि के समय के लिए कृत्रिम उपाय से आलोक का उत्पादन करने की चेष्टा की है। उस

चेष्टा के इतिहास के सङ्कलन की सूचना के स्वरूप में यह सुविस्तृत निबन्ध लिखा जा रहा है, किन्तु इस इतिहास की अवतारणा के पहले प्रसङ्गक्रम से एक बात और कह देनी है।

जब मानव-बुद्धि क्रमशः विकाश करने लगी तब मनुष्य अपने अभाव का अनुभव करने लगा, साथ ही उस अभाव को दूर करने के लिए उसने तरह-तरह के उपायों का उत्पादन करना सीखा। प्रयोजन का अनुभव कर लेने तथा मन में अभाव की पूर्ति की प्रवृत्ति उत्पन्न होने पर मनुष्य ने आलोक की अपेक्षा ताप की ही उपयोगिता का अधिकतर तीव्र भाव से अनुभव किया था। कारण यह है कि अन्धकार में तो मनुष्य जीवित भी रह सकता है, किन्तु शीत का निवारण किये बिना प्राणधारण करना दुःसाध्य है। विशेषकर जगत् की आदिम अवस्था (glacial period) में शीत भी अत्यन्त असह्य थी। उस युग में पशुओं का लोममय चर्म धारण करने तथा वसा (चर्वी) का भोजन करने पर भी वह शीत प्रशमित नहीं होता था। इसके अतिरिक्त मांस, चर्वी तथा फल-मूल के भोजन से क्रमशः अरुचि उत्पन्न हुई, तब मनुष्य ने खाद्य पदार्थों के पकाने के लिए भी अग्नि की आवश्यकता का अनुभव किया। सम्भव है कि आकस्मिक दावानल में पशुपक्षियों का अर्द्धदग्ध मांस खाकर मनुष्य ने उसे कच्चे मांस की अपेक्षा अधिक सुस्वादु समझा हो और सुस्वादु खाद्य पकाने के लोभ से क्रमशः इच्छा के बलवती हो जाने पर उसने अग्नि का उत्पादन करने का

अभिनिवेश किया हो और अन्त में दावानल देखकर उसने पहले पहल यह ज्ञान प्राप्त किया हो कि अग्नि में दाहिका-शक्ति है, साथ ही यह ताप का भी विकिरण करती है, यह बात कहने में किसी तरह के किन्तु-परन्तु की आवश्यकता नहीं है। परन्तु दावानल दैवी घटना है, मनुष्य की इच्छा के अधीन नहीं है, अतएव अग्नि प्रज्वलित करने का कृत्रिम उपाय मनुष्य के हाथ में नहीं आया था। किस कृत्रिम उपाय से दावानल के समान अग्नि उत्पन्न की जा सकती है, इस विषय में मनुष्य अपने मस्तिष्क का सञ्चालन करने लगा। कदाचित् दैवात् प्रज्वलित दावानल को बुझने न देकर उसने उसमें ईंधन लगा दिया। उसी अग्नि को (तम्बाकू पीने के लिए कंडे की आग की तरह पर) बचा रखने की चेष्टा सर्वप्रथम है।

उसके बाद किसी एक असाधारण प्रतिभा-शाली मनुष्य ने दावानल का बार-बार पर्य्यवेक्षण करके यह स्थिर किया कि एक लकड़ी से दूसरी लकड़ी के घिसने पर दावानल उत्पन्न होता है। इस सूत्र का अवलम्बन करके एक लकड़ी से दूसरी लकड़ी को रगड़कर कृत्रिम उपाय से अग्नि का उत्पादन करने में जो कृतकार्य्य हुए थे, वे ऋषिपदवाच्य हैं। प्राचीन वैदिक साहित्य में इस बात का उल्लेख पाया जाता है कि नचिकेता ने यमराज से अग्नि-चयन विद्या सीखी थी। ग्रीक पुराण में भी इस बात का वर्णन पाया जाता है कि प्रोमिथियस (Prometheus) ने स्वर्ग से अग्नि का अपहरण करके

मनुष्य को उसका उपयोग सिखलाया था। परन्तु भाषा-तत्त्व के विद्वानों ने यह समझाने की चेष्टा की है कि उपर्युक्त कथा रूपक है। दो अरणियों के सङ्घर्षण से अग्नि का जो आविर्भाव हुआ, उसके रहस्य ने इस कहानी का रूप धारण कर लिया। Prometheus—प्रमन्थ—लकड़ी को लकड़ी से रगड़कर अग्नि का मन्थन करना। यह आज भी वैदिक यज्ञ का अपरिहार्य्य अङ्ग है। (उक्त प्रक्रिया अनेक असभ्य जातियों में भी भली भाँति प्रचलित है।) साग्निक या आहिताग्निक गृहस्थ जो बड़े यत्न से अग्नि की रक्षा किया करते थे, उसके मूल्य में भी सम्भवतः यही तथ्य रहा होगा कि उस युग में अग्नि का उत्पन्न करना एक प्रयत्न-साध्य व्यापार था। इस उपाय का उद्भावन करने के बाद ही निश्चित शवदेह को ज़मीन खोदकर गाड़ने के बदले उसका अग्नि-संस्कार करने की प्रथा का प्रवर्तन हुआ था।

इस प्रकार मनुष्य ने जब अपनी उद्भावनी शक्ति का प्रयोग करके कृत्रिम उपाय से अग्नि का उत्पादन करने में सफलता प्राप्त कर ली, तब उसने अग्नि की दाहिका एवं प्रकाशिका-शक्ति, अर्थात् ताप और प्रकाश दोनों की ही उपकारिता को समझा और दोनों ही प्रयोजनों की सिद्धि के लिए वह कृत्रिम उपाय से अग्नि उत्पन्न करने लगा।

इस तरह दो लकड़ियों को परस्पर एक दूसरी से रगड़कर अग्नि उत्पन्न करने की क्रिया बराबर उन्नति करती गई। कुछ

दिनों के बाद लोगों ने इस काम के लिए एक और भी सरल विधि निकाली। चकमक पत्थर या लोहे के ऊपर किसी नोकीले पत्थर या लोहे से चोट कर लोग अग्नि के स्फुलिङ्ग उत्पन्न करते और उसी से खूब सूखी और मुलायम पत्तियों या लकड़ियों में आग लगा दी जाती। यही क्रिया क्रमशः उन्नति करते-करते आज अग्निगर्भा दीपशलाका के रूप में परिणत होकर घर-घर में विराजमान है। इसका स्थान गृहस्वामी के कमीज़ के जेब में भी है और गृहिणी की तकिया के नीचे भी। इस घर्षण-व्यापार की यही चरम उन्नति है। हाय, इस चरम आविष्कार के दिन में कथाओं की सृष्टि का युग (Mythopoeic age), हिन्दू तथा ग्रीक आदि आर्य्य-जातियों का वह सुन्दर कल्पनाप्रवणता का युग व्यतीत हो चुका है। यही कारण है कि आधुनिक कवि 'नमामि विलायती अग्नि दियासलाई रूपिणी' कहकर 'नमोनमः' करके ही टाल दिया, दियासलाई के आविष्कारक को नचिकेता या प्रोमिथियस के समान उच्च आसन नहीं दिया।

बात ही बात में बहुत दूर निकल आया हूँ। पहले कह रहा था कि रगड़कर निकाली हुई आग में सूखी हुई पत्तियाँ, सूखी लकड़ी आदि आसानी से जलनेवाला ईंधन लगाकर मनुष्य उत्ताप एवं आलोक, दोनों ही का उपभोग करने लगा। परन्तु केवल आलोक के लिए एक बड़ा सा अग्नि-कुण्ड प्रज्वलित करना कुछ दिनों के बाद कुछ विशेष प्रकार का आडम्बर (Clumsy) सा

समझा जाने लगा। यह कार्य्य मानो विशल्यकरणी के लिए समग्र गन्ध-मादन का उत्पाटन था। कांग्रेसवादियों के प्रस्तावित न्याय एवं शासन-विभागों के पृथक्करण (Separation of judicial and executive functions) के समान प्रकाश, ज्वाला और ताप देने की व्यवस्थाएँ पृथक्-पृथक् की गईं। प्रकाश के निमित्त वृहत् अग्नि-कुण्ड जलाने के बदले अंडी को ज़रा-सा पानी डालकर खूब महीन पीसकर एक पतली सी सूखी लकड़ी के सिरे पर लपेट देते और उसी में आग दिया करते। तेल देनेवाले काष्ठों तथा उस तरह के अन्य पदार्थों से प्रस्तुत किये गये मशाल जलाने की भी व्यवस्था की गई। आगे चलकर मनुष्य ने जब तेल देनेवाले बीजों (तेलहन) से तेल निकालना सीख लिया,, तब तो काम बहुत ही आसान और सीधा होगया, साथ ही उसमें समय का भी बहुत कम व्यय होने लगा। वैद्यों की जड़ी-बूटी और डाक्टरों के औषधियों के सत व रस (Extract) में जो अन्तर है, वही अन्तर प्रकाश करने की पहले की बहुत आडम्बरपूर्ण प्रणाली तथा बाद की संक्षिप्त प्रणाली में भी है।

सरसों, अलसी, रेंडी, कोया तथा नारियल आदि से तेल निकालना जब मालूम होगया, तब मनुष्य ने बत्ती तथा दीपक आदि का भी आविष्कार कर लिया। तब से घर-घर में साँझ के समय दीपक जलाना गृहस्थ का एक आवश्यक कार्य्य होगया। तभी से देवताओं के निमित्त दीपक जलाने अर्थात् आकाशदीप

की प्रथा हुई, तभी से देवार्चन के समय आरती का आयोजन हुआ और मंगल-कलश के ऊपर तैल के स्थान पर पवित्र घृत के प्रदीप की प्रतिष्ठा हुई। उस समय से विवाह में बत्ती मिलाने की प्रथा हुई, कोहबर में वर को घेर-घेरकर सुन्दरियाँ बैठने लगीं और सुखमय रात्रि में एकान्त कक्ष में बैठकर दीपक के प्रकाश में प्रेमिक ने प्रेमिका के मुखचन्द्र का निरीक्षण किया।

इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य उतने समय तक वृक्षों की छाया या पर्वत की कन्दराएँ छोड़कर कुटीर बनाकर रहना सीख गया था। रात के समय घर में दीपक जला सकने के कारण उसे बहुत कुछ सुख-सुविधा हुई। एक कमरे से दूसरे कमरे में जाते समय किसी चीज़ से टक्कर खाकर गिरना नहीं पड़ता, ज़रूरत की चीज़ें खोजने के लिए टटोलना नहीं पड़ता, भोजन के साथ घास-कूड़ा या कीड़ा-मकोड़ा खाना नहीं पड़ता, बिस्तरे पर सोने जाते समय साँप-बिच्छू का शिकार नहीं होना पड़ता। ये सब तो साधारण बातें हैं। समस्त दिन तरह-तरह के श्रमसाध्य कार्य्य करने के पश्चात् विश्राम के समय स्त्री-पुरुष ने परस्पर एक-दूसरे तथा सन्तान-सन्तति का मुख देखकर विमल आनन्द प्राप्त किया। वे लोग कितने आमोद-आह्लाद से, कितना हास्यमय मधुर आलाप करके अपना समय व्यतीत करने लगे! वास्तव में हुक्का पीनेवाले के मुँह में जब तक तम्बाकू का धुआँ नहीं पहुँच पाता, तब तक तम्बाकू पीने का सारा प्रयत्न उसके लिए निष्फल रहता है। इसी तरह परस्पर एक दूसरे का

हास्य से उज्ज्वल मुख यदि न दिखाई पड़ा, तब तो सारी हँसी ही निरर्थक हो जाती है। इसीलिए रसिकराज चार्ल्स लैम्ब ने कहा है—Jests came with candles. आलोक उत्पन्न कराने का उपाय आविष्कृत होने से पहले लोग साँझ के समय भोजन आदि से निवृत्त होकर सोजाया करते; हँसी-ठट्ठा, गाना-बजाना और आमोद-आह्लाद कुछ भी नहीं जमता था।

यह तो हुई घर में प्रकाश करने—दीपक जलाने की सुख-सुविधा की बात। परन्तु मनुष्य को तो और भी असुविधाएं हैं। यदि अँधेरी रात के समय कार्य्यवश किसी पड़ोसी के यहाँ या दूसरे गाँव में जाना हुआ, तब कैसे काम चले? यदि उजेली रात हुई तब तो सरकारी रोशनी ही चारों ओर जलती रहती है। जहाँ चाहो, बेखटके जा सकते हो। किन्तु "निशायां नष्ट चन्द्रायां दुर्लभो मार्गदर्शकः"। जिस रात में चन्द्रमा नहीं होते, उसमें मार्ग दिखलानेवाला दुर्लभ है। तब तो दूर के कुटीरों में टिमटिमाते हुए दीपकों के क्षीण प्रकाश को ही ध्रुवतारा के समान लक्ष्य करके चलना पड़ता था। यदि कहीं मैदान में स्वभावतः उत्पन्न होनेवाली अग्नि प्रज्वलित होती रहती, तब तो मामला और भी बेढब हो जाया करता था। घर का दीपक हाथ में लेकर यदि चलते, तो दो क़दम बाद ही मुक्त वायु में आकर वह बुझ जाता। हाथ की आड़ में दीपक की रक्षा करते हुए एक कमरे से दूसरे कमरे तक मनुष्य जा सकता है, किन्तु इस घर से उस घर में या इस गाँव से उस गाँव में कोई भी नहीं जा

सकता। इस असुविधा को दूर करने के लिए काँच या किसी अन्य स्वच्छ पदार्थ से बना हुआ प्रकाश का आवरण यानी हाथ की लालटेन आविष्कृत हुई। रात के समय एक घर से दूसरे घर में, या एक गाँव से दूसरे गाँव में, जाते समय लालटेन लेकर चलने में ही सुविधा होती है। जिस तरह जेबघड़ी या हाल की बनी हुई 'रिस्ट-वाच' साथ में रखने से समय देखा जा सकता है, वैसे ही हाथ में लालटेन रहने पर रास्ता भी देखा जा सकता है। वीर हनूमान ने असली सूर्य्य को बग़ल में दाब लिया था। डारविन के मत से जो लोग उक्त महात्मा के उत्तर-पुरुष हैं, उन्होंने नक़ली सूर्य्य को हाथ में लटका लिया। वास्तव में क्या ये सचल प्रकाश (Migratory lanthorn,' vagabond pharos') सूर्य्य, चन्द्र तथा ताराओं के गार्हस्थ्य संस्करण नहीं हैं?

इसके बाद सभ्यता की वृद्धि के साथ-ही-साथ नगरों का निर्माण हुआ। बाद को सभ्यता की और भी अधिक अभिवृद्धि होने पर सड़कों पर आलोक-स्तम्भ निर्मित किये गये। अब आफ़िस करके, ट्यूशन करके, विवाह में निमन्त्रण खाकर, थियेटर देखकर, साहित्य-चर्चा या अन्य किसी प्रकार के आमोद-आह्लाद से अवकाश पाकर जितनी भी रात को लौटो, हाथ में लालटेन लेकर घबड़ा-घबड़ाकर चलने की आवश्यकता नहीं है। इसके साथ ही नाक टूटने, पैर में मोच आने, दूसरे के ऊपर गिर पड़ने या रास्ता भूल जाने का भी भय नहीं है। एक

वह समय था जब हमारे प्राचीन कवि (मृच्छकटिक के लेखक) ने चन्द्रमा को 'राजमार्गप्रदीप' कहकर उसका छोटापन ज़ाहिर किया था। और आज वर्तमान युग के अँगरेज़ लेखक स्टिवेंसन (Stevenson) ने सड़क के बग़ल-बग़ल क़तार के क़तार बने हुए आलोक-स्तम्भों को 'Urban stars' 'biddable domesticated stars' 'नगर के तारे' 'आज्ञाकारी घरेलू तारे' कहकर उन्हें बढ़ाया है। समय का कैसा परिवर्तन है!

कथा-प्रसंग से सभ्यता की कई सीढ़ियाँ एक ही छलाँग में लाँघ आया था। अब फिर से उस आदिम किन्तु कृत्रिम प्रदीप या चिराग़ की बात छेड़ूँगा। जैसे-जैसे क्रमशः सभ्यता का विकास होता गया, वैसे-ही-वैसे इस नये प्रकाश अर्थात् दीपक में तरह-तरह के दोष दृष्टिगोचर होने लगे। तेल और वत्ती का चिराग़ भद्दा और बेतुका होता है। बत्ती बटना भी बड़े परिश्रम का काम है। तिस पर भी बत्ती यदि साफ़ कपड़े या रुई की न हुई तो उजाला ठीक नहीं होता। तेल भी साफ़ न हुआ तो चिराग़ की रोशनी बहुत धीमी हो जाती है। इसके सिवा क्षण-क्षण पर बत्ती उस्काना, तीन-तीन चार-चार घंटे के बाद नयी बत्ती लगाना, घंटे-घंटे में दीपक में तेल डालना—इन सब में बड़ा कष्ट होता है। तेल डालना या बत्ती उस्काना बड़ा बेहूदा काम है। दीपक पर सदा दृष्टि भी रखनी पड़ती है। किस समय तेल डालना पड़ेगा, बत्ती उस्कानी पड़ेगी, या फिर से नयी बत्ती लगानी पड़ेगी, इन सब चिन्ताओं के कारण मन स्थिर नहीं

हो पाता। जब तक यह जलेगा, तब तक जलाता भी रहेगा। और यदि वर्षा ऋतु हुई तब तो दीपक में कीड़े पड़ जाने का भय या हवा लगने से बुझ जाने का भय रहता है। इधर दीपक की अनावृत शिखा पर असावधानी से यदि धोती या कुर्ते आदि का छोर पड़ जाय तो शरीर या घर का जल जाना भी कोई आश्चर्य्यजनक बात नहीं है।

इन सब दोषों का परिहार करने के प्रयत्न से मनुष्य ने दीपक से भी सुविधाजनक और उत्तम प्रकाश—मोमबत्ती और चर्बी की बत्ती का आविष्कार किया। ठोस पदार्थ को द्रव करके उसे फिर से लम्बी और गोल बत्ती के आकार में ठोस कर लिया गया और द्रवीभूत अवस्था में ही कौशल से उसके बीच में एक सूत की बत्ती छोड़ दी गई। बाद को उस बत्ती में आग लगा देने पर उसकी गर्मी पाकर वही द्रव पदार्थ पिघल-पिघल कर ईंधन का काम करने लगा। इस प्रकार बार-बार तेल-बत्ती इकट्ठा करने या बत्ती उभाड़ने की जरूरत न रह गई। यह प्रकाश बड़ा ही स्निग्ध, बड़ा ही मधुर, बड़ा ही सुन्दर और आकर्षक होता है। परन्तु यह व्यय-साध्य है, धनिकों के उपयोग की वस्तु है, विलासिता का उपकरण है। सेठ-साहूकारों की अट्टालिकाओं तथा राजप्रासादों में ही इसका स्थान है। विलासिता की गोद में केलि करनेवाली कामिनियाँ अपने-अपने प्रेमपात्र की प्रतीक्षा में मोमबत्तियाँ जलाकर भले ही सार रात जागती रहें, किन्तु निर्धन के लिए तो उस

मिट्टी के चिराग़ के अतिरिक्त और कोई दूसरा अवलम्ब नहीं है।

जो भी हो, इन बत्तियों के कारण चिराग़ के अन्यान्य दोषों का निराकरण हो जाने पर भी प्रकाश की शिखा पर कीड़े-मकोड़े गिरने, हवा लगने के कारण बुझ जाने अथवा विधाता के आकस्मिक कोप का भय दूर न हुआ। इस त्रिदोष प्रतिक्रिया के लिए लालटेन और फ़ानूस का प्रचार हुआ। निर्धन का चिराग़ अलबत्ता खर्च बढ़ जाने के भय से इस तरह के आवरण का आश्रय नहीं प्राप्त कर सका। परन्तु महाजन की गद्दी पर गिलास के भीतर जलाया हुआ रेंड़ी या नारियल के तेल का प्रकाश और शौक़ीनों की मोमबत्ती या चर्बी की बत्ती का प्रकाश 'हाँड़ी' या फ़ानूस के स्वच्छ शीशे के भीतर से खुलता अधिक है। खूब सजे-सजाये झाड़ के भीतर जब बत्ती जलने लगती है तब तो उसकी बहार हज़ार-गुना बढ़ जाती है। उसके प्रकाश में उज्ज्वलता के साथ-साथ माधुर्य्य का भी सम्मिश्रण हो जाता है।

यही दो तरह के प्रकाश—निर्धनों का सम्बल चिराग़, और धनिकों का मोमबत्ती या चर्बी की बत्ती—हज़ारों वर्ष से चले आ रहे थे। चले क्यों आ रहे थे, आज भी बहुत घरों में बाक़ायदा चालू हैं। परन्तु आज से कुछ ही दिन पहले मनुष्य की नयी-नयी वस्तुओं के खोज निकालने की इच्छा ने धर्ती को खोदकर मिट्टी का तेल निकाल लिया, जिसके कारण

आलोक-जगत् में एक विसव उठ खड़ा हुआ। चिमनी की सहायता से आज इसका प्रचार अवाध गति से हो रहा है। आज इस मिट्टी के तेल के सामने सरसों, अलसी, रेंड़ी और कोया आदि के तेल का चलन बन्द होता जा रहा है। दुर्गन्धि और धूमोद्गार से नाक जल जाती है, आलोक की तीव्रता से दिमाग़ में चक्कर आने लगता है, उसके कोयले के विषाक्त सूक्ष्म-कण खाने-पीने की चीज़ों में मिलकर स्वास्थ्य नष्ट कर रहे हैं, यकायक आग लगकर कितने घर, कितनी दूकानों, सुतली और रुई की कितनी गाँठें, कितने मनुष्य जल-जलकर मर रहे हैं, जलवत्तरलम् तीव्रविष का वाल्यवुद्धि से पान करके कितने वालक-वालिकाएँ मृत्यु-मुख में पतित हो रहीं हैं, केवल मर्मान्तिक वेदना से क्यों, साधारण अभिमान से कितनी स्त्रियाँ अपनी साड़ी पर अत्यन्त सरलता से जल उठनेवाले इस पदार्थ को डालकर अग्नि लगा लेती हैं और निरर्थक ही जीवन का वलिदान किये दे रही हैं! इधर हम सब अर्थशास्त्र के विशारद सस्तेपन के प्रभाव में आकर अचल-अटल भाव से वीर आसन पर बैठे हुए इस लेलिहान (लपलपाती हुई) अग्निशिखा का स्तव-पाठ कर रहे हैं—

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।
या देवी घर-द्वारेषु चिमनीं रूपेण संस्थिता॥

अस्तु, इस तरह की ओजगुण-सम्पन्न वक्तृता की आवश्यकता

नहीं है। अब और बात छेड़ता हूँ। मानव-बुद्धि की अनुसन्धान करने की प्रवृत्ति, आविष्कार-क्षमता एवं उद्भावनी-शक्ति की सीमा नहीं है। मनुष्य की सूक्ष्म बुद्धि ने कठिन पदार्थों यानी काष्ठ, खर-पतवार आदि में अग्नि का संयोग करके आलोक का आविर्भाव किया, बाद को कड़े बीजों—सरसों, अलसी आदि से तरल तैल निकालकर, युक्ति से घृत और वसा प्रस्तुत करके, मधुमक्षिका के श्रम से समुत्पन्न मोम लेकर, सुरासार (Spirit) चुआकर, उन सब का आलोक के ईंधन के रूप में उपयोग किया। अन्त में कठिन अर्थात् ठोस एवं तरल पदार्थों से भी सन्तुष्ट न होकर वह वायवीय पदार्थ को भी आलोक के ईंधन के रूप में उपयुक्त करने में प्रवृत हुआ, अध्यवसाय की बदौलत गैस का दीपक जला। यह यदि सँभाल लिया जा सके तो निरापद है, परन्तु Leak करने पर दुर्गन्धि की असुविधा तो है ही, प्राण की आशङ्का भी है। यदि एकदम जल उठे तो वह बहुत ही अनर्थकारी सिद्ध होता है। इसका प्रकाश मिट्टी के तेल के प्रकाश की अपेक्षा शीतल और स्निग्ध होता है। साथ ही और तेलों के प्रकाश की अपेक्षा प्रखर भी होता है। इसी लिए Golden mean 'मध्यमा प्रतिपत' कहकर इसकी प्रशंसा की जाती है। नगरों में, जो सभ्यता के केन्द्र हैं, इसका प्रसार यथेष्ट हो गया है। केवल घर-घर में ही क्यों, सड़कों पर भी, पहले के नारियल या रेंड़ी के और आजकल के मिट्टी के तेल की लालटेनों के बदले अब क़तार-के-क़तार

गैस के प्रदीप जला करते हैं। साँझ के तारों के साथ-ही-साथ म्युनिसिपलिटी के मशालची सीढ़ी पर चढ़कर एक अभिनव स्वर्ग का द्वार उन्मुक्त कर देते हैं।

बाद को एक दिन, जब आकाश मेघों से आच्छादित था, अमरीका के बेंजाभिन फ्रेंकलिन के हाथ में कोई काम नहीं था, ऐसे दिन में भारतवासियों की तरह शृङ्गारमय बरसाती गीतों या कालिदास के मेघदूत की आवृत्ति करने की प्रवृत्ति उनकी नहीं थी, इसलिए वे अपनी मौज में आकर पतङ्ग उड़ा रहे थे और समुद्र का मन्थन करते समय जिस तरह देवता तथा असुरगण मिलकर लक्ष्मी को खींच लाये थे, उसी तरह वे आकाश-रूपी समुद्र से, व्योमवपुः पयोधि से, सौदामिनी-सुन्दरी को बन्दी कर लाये। (इसकी तुलना में रावण का अत्याचार लड़कों का खेल है।) उसी दिन से चञ्चला चपला मनुष्य के हाथ की दासी (Handmaid) है। पंखा खींचने से लेकर दीपक जलाने तक का काम उसी की ज़िम्मेदारी पर है। दासी भी ऐसी है, जिसे गला फाड़-फाड़कर पुकारने की ज़रूरत नहीं। शरीर पर पानी छिड़ककर उसे जगाने की भी ज़रूरत नहीं पड़ती। मुलायम हाथ से ज़रा-सा बटन भर दबा दो, बस दासी हुज़ूर की ख़िदमत में हाज़िर हो जाती है—सारे घर, सारे रास्ते, सारे शहर में उजाला ही उजाला हो जाता है।

परन्तु हम तड़ित् सुन्दरी के इतने पक्षपाती नहीं है। इसके कारण उज्ज्वलता में मधुरता का सम्मिश्रण नहीं रहता। बिजली

की बत्ती आँखों को चकाचौंध कर देती है। गैस के प्रकाश के समान इसका प्रकाश मधुर एवं स्निग्ध नहीं होता। गैस के लीक (Leak) करने की-सी तीव्र दुर्गन्धि इसमें न होने पर भी इसका फ्यूज़ (Fuse) जलने पर एक प्रकार की दुर्गन्धि निकलती है। आकस्मिक विपत्ति की आशङ्का इसमें गैस और मिट्टी के तेल की अपेक्षा किसी अंश में कम नहीं है। मतलब यह कि Electrocution का बड़ा भय रहता है। यदि किसी दिन मशीन का कोई पुर्ज़ा बिगड़ गया, तब तो उसका प्रकाश एकदम ही बुझ जाता है। उस अवस्था में इन्द्रभवन-तुल्य प्रासाद में मोमबत्ती या चिराग़ जलाकर 'पुनर्मूषिक' होना पड़ता है। कारख़ाना खोलने में अधिक व्यय होने पर भी हिसाब लगाने पर बिजली लोगों को सस्ती पड़ती है। अतएव इस अर्थ-शास्त्र के युग में, किन्तु साथ-ही-साथ विलासिता के साम्राज्य में, इसके प्रचार में कोई भी बाधा नहीं डाल सकता। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह आँखों को झुलसा देनेवाला, चकाचौंध कर देनेवाला आलोक हमारे अनुकूल नहीं पड़ता। यदि इस घोर कलिकाल में सभ्यता के केन्द्र माने जानेवाले नगरों में विलास-लालसा का, बड़े आदमियों के व्यसन का, अनाचार-पापाचार का नारकीय दृश्य उद्घाटित करना चाहते हो, पापपुरी का, स्वयं मनुष्य के द्वारा सृष्ट नरक का, अन्धतमसाच्छन्न एकान्त कोना, अन्तर तक Search light के द्वारा Expose करना चाहते हो तो इस तीव्र आलोक को प्रज्वलित करो। और

यदि विलास-सागर में अपने शरीर को सराबोर न करके शान्त, शुद्ध एवं संयत चित्त से सुखमय गृह्-नीड़ में स्वाभाविक भाव से जीवन-यात्रा का निर्वाह करते हुए विमल सुख एवं शान्ति प्राप्त करना चाहते हो तब उसी पिता-पितामह के दीपक की फिर से प्रतिष्ठा करो।

'येनास्य पितरो याताः येन याताः पितामहाः
तेन यायात् सतां मार्गं तेन यास्यन्न दूयसे ॥'

इसके लिए दूसरों का मुँह न ताकते रहना पड़ेगा, गैस या बिजली के बड़े-बड़े कारख़ानों का भरोसा करने की भी ज़रूरत नहीं। बहुत थोड़ा ही प्रयत्न अपेक्षित है, वह भी स्वयं अपने हाथ में है। शास्त्र भी कहता है—सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।

परन्तु मनुष्य का सतत चञ्चल मन क्या यहीं तक शान्त रह जायगा? 'So far shall thou go and no farther यह विधि-निषेध क्या वह मानेगा? गेटे की वह मृत्युकालीन उक्ति—Light, Light, more light' सभ्य मानव का इष्ट मन्त्र होगया है। इसी से भय होता है कि उसकी आविष्कार-प्रवृत्ति, उद्भावनी शक्ति, अनुसन्धान करने की इच्छा, भोग-वासना यहीं न उपशान्त हो जायगी। बीसवीं शताब्दी का अन्त होने से पहले ही और भी उच्च आकाङ्क्षा के वशवर्ती होकर बिजली की बत्ती पर ढक्कन लगाकर रेडियम के आलोक से नर-देह का प्रत्येक शिरा-उपशिरा तक सब को दृष्टिगोचर

करके भी वह निवृत्त न होगा। इस तीव्रतम आलोक के सम्पात से वह समस्त जगत् को धवलित कर देगा। उस अवस्था में किरासिन, कार्बाइड् गैस, स्पिरिट, विजली की बत्ती आदि सभी प्रकार के प्रकाश इस रेडियम के सामने धुँधले पड़ जायँगे।

संस्कृत-साहित्य में कवित्व के क्रम-विकास के सम्बन्ध में उद्भट सागर का एक श्लोक है—

तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः॥

क्या आलोक के क्रम-विकास के सम्बन्ध में भी उद्भटसागर महाशय इसी तरह के एक श्लोक की रचना नहीं कर सकते?

अर्थात्—भारवि की शोभा तभी तक थी, जब तक महाकवि माघ का उदय नहीं हुआ था। नैषध-काव्य की रचना हो जाने पर तो भारवि और माघ दोनों ही का रंग फीका पड़ गया।

५—चुटकी

व्यङ्ग्य साहित्य की उपयोगिता

सभी देशों के साहित्य में हास्यरस का आदर है। फ़रासीसी भाषा में इस विषय का साहित्य बहुत बढ़-चढ़कर है। फ्रांस के ख्यातनामा रसिक लेखकों की लेखनी से निकले हुए छोटे-छोटे गद्यमय परिहास फ़रासीसी भाषा के अलङ्कार हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अँगरेज़ी भाषा में भी इस ढंग के साहित्य का निर्माण करने की चेष्टा की गई है। बेकन जैसे महाज्ञानी ने भी इस पद्धति के अनुसार कितने ही परिहास लिखने में ज़रा भी सङ्कोच का अनुभव नहीं किया। स्विफ्ट की रसमयी लेखनी भी फ्रांसवालों की ही तरह के परिहास लिखने के लिए अग्रसर हुई थी। परन्तु फ़रासीसियों के लिखे हुए परिहास में जो कोमलता है, उक्त अँगरेज़ लेखकी की रचना में उसका आभास तक नहीं मिलता। फ़रासीसी भाषा के साथ लैटिन भाषा का निकट-तम सम्बन्ध है। चाहे इसीलिए हो, या और ही किसी अज्ञात कारण से हो, फ़रासीसी साहित्य में जिस तरह की सरसता एवं कोमलता देखने में आती है, उस तरह की अँगरेज़ी

साहित्य में नहीं है। अँगरेज़ी गद्य कुछ कठोर है, कुछ एक-रु का है। इसमें फ्रेंच साहित्य की सी विचित्र भंगी नहीं है। कदाचित् इसी कारण से फ़रासीसी-साहित्य के परिहास में इतना सुघड़पन आगया है।

मेरा विश्वास है कि चाहे संस्कृत भाषा के साथ निकटतम सम्बन्ध होने के कारण हो, अथवा अन्य किसी अनिर्देश्य कारण से ही हो, हिन्दी भाषा में भी फ़रासीसी भाषा के ही समान कोमलता, सरसता एवं भावलीला की भंगी यथेष्ट परिमाण में वर्त्तमान है। आशा होती है कि किसी प्रतिभाशाली लेखक के हाथ में पड़ जाने पर इस ढंग का साहित्य हिन्दी में बहुत खुलेगा। बहुत थोड़े से शब्दों में मनुष्य के चरित्र या मानव-जीवन के किसी एक जटिल तत्त्व को सरल और साथ ही सरस भाषा में प्रकट करना ही इस प्रकार के साहित्य की विशिष्टता है। हास्य की पुट तो रहेगी, लेकिन वस्तु बहुत हल्की न होगी। भाव गम्भीर होगा किन्तु उसमें गम्भीरता भी बहुत अधिक न रहेगी। इस तरह के साहित्य में आवश्यक है कि ज़रा-सा विद्रूप का कटाक्ष रहे और करुणा के अन्तःसलिल का प्रवाह धीरे-धीरे बहता रहे। इस तरह के उज्ज्वल और मधुर के सम्मिश्रण से इस प्रकार का साहित्य सार्थक होता है।

हम लोगों का स्वभाव ही ऐसा पड़ गया है कि हम लिखने के लिए जब क़लम उठाते हैं, तब बहुत गम्भीर और सारगर्भित, साथ ही बहुत विस्तृत निबन्ध, राजनीति, इतिहास, दर्शन,

विज्ञान, साहित्य तथा समाजशास्त्र आदि से सम्बन्ध रखनेवाली गवेषणाएँ तत्काल ही दिमाग़ में आजाती हैं। इधर कविता का भी आग्नेय उच्छ्वास लगातार दस योजन तक उद्गीर्ण हो उठता है। परन्तु व्यङ्ग्य लिखने की बात हमारे दिमाग़ में नहीं आती। हम लोग टोपी की क़द्र नहीं जानते, अपने मस्तक की शोभा-समृद्धि दिखलाने के लिए बीस गज़ के थान की पगड़ी बाँधते हैं और समस्त इन्द्रियों के द्वार बन्द करके बहुत अधिक बुद्धिमान् हरचन्द्र राजा के गवचन्द मन्त्री बन बैठते हैं। व्यङ्ग्य लिखते समय मन में यह मोह उत्पन्न होता है कि यह ज़रा-ज़रा से चुटकुले लिखकर अपनी इतनी सुन्दर प्रतिभा मिट्टी क्यों कर दूँ? हम यह भूल जाते हैं कि मध्याकर्षण शक्ति के बल पर शून्य में भ्रमण करते हुए सौर-जगत् की सृष्टि करने में विधाता ने जिस कौशल का परिचय दिया है, सुन्दरी की नासिका में झूलती हुई मुक्ता का निर्माण करने में उसने कम कुशलता का परिचय नहीं दिया है।

पापड़ भूनना

हास्यमय श्लेष से युक्त काव्य (Satire) की रचना साहित्य-रूपी रसोई में पापड़ भूनने के समान है। यह बहुत मुख-रोचक होता है; किन्तु अधिक खाने से पेट में गर्मी पैदा हो जाती है और पाचनिका शक्ति बिगड़ जाती है। इस कारण रुचि भी विकृत हो जाती है, फिर साधारण भोजन अच्छा ही नहीं लगता। इसके साथ ही यह भी है कि कच्चा पापड़ खाया नहीं जाता।

उसे मुँह में डालने की इच्छा ही नहीं होती और यदि डाल भी लें तो वह दातों में लिपट जाता है। उसी पापड़ को घी में भूनकर परोस दें, तो दातों के नीचे पड़ते ही कुड़-कुड़ करके टूट जाता है, खाने में बड़ा आराम मिलता है। व्यङ्ग्य और परिहास भी ठीक इसी तरह की चीज़ है। सामाजिक कुरीतियाँ पारिवारिक दोष तथा व्यक्ति-विशेष के चरित्र की निर्बलता आदि इसके निन्दित उपकरण हैं। कच्ची अवस्था में वह सब कुत्सा सुनकर सुधी समाज कानों में उँगली दे लेता है, कम से कम ऐसी बात सुनने में उसे न जाने कैसा क्लेश सा मालूम होता है, परन्तु जिस समय साहित्य में सिद्धहस्त हलवाई के कला रूपी घी में भुनकर वह तैयार हो जाता है, उस समय वही परनिन्दा रूपी रद्दी माल यदि पाठकों के पत्तल पर परोस दिया जाता है, तो उन्हें वह बहुत मजेदार मालूम पड़ता है।

पका हुआ आम और काव्य-समालोचना

सुनने में आता है, एक देश के राजा ने यह जानने की इच्छा की कि आम खाने में कैसा होता है। (निस्सन्देह वह देश हनूमानजी के प्रसाद से वञ्चित था।) राजा के मन्त्री ने कहा कि महाराज, सेर भर गुड़ और सेर भर इमली मँगवा लीजिए। बस, आप को आम खिलाये देता हूँ। ये दोनों चीज़ें जब आगइं तो मन्त्री महोदय ने इमली का खूब गाढ़ा सा पना बनाया और उसमें गुड़ को खूब मिलाकर अपनी लम्बी-लम्बी दाढ़ी

में अच्छी तरह से लपेट लिया। इसके बाद उन्होंने राजा साहब से दाढ़ी को चाटने को कहा। राजा समझ गया कि आम का स्वाद खटमिट्ठा होता है और उसमें बहुत से रेशे होते हैं।

कितने ही समालोचक लम्बी दाढ़ी की सहायता से इसी तरह काव्य के उपादानों का विश्लेषण किया करते हैं। डिकन्स की समालोचना करते समय लोग कहते हैं कि हास्य और करुणरस का अपूर्व सम्मिश्रण A curious blending of humour and pathos) है। परन्तु इससे क्या डिकन्स की प्रतिभा के स्वरूप का निर्णय होता है? ओपजन (आक्सिजन) और उदजन (हाइड्रोजन) चखकर देखने पर क्या जल के स्वाद और उसकी स्निग्धता का अनुभव किया जा सकता है?

आधुनिक प्रेम की कविता

आजकल प्रेम की जो कविताएं लिखी जाती हैं, उनकी तुलना बाज़ार की खाने-पीने की चीज़ों से करने को जी चाहता है। पूड़ी-मिठाई और नमकीन आदि की दूकानें आजकल छोटे-छोटे गली-कूचों तक में यथेष्ट संख्या में पायी जाती हैं। आज से पचास वर्ष पहले यह बात नहीं थी। छापाख़ानों की बदौलत आजकल कविता भी गली-गली मारी-मारी फिरती है। पहले लोग लाई और गरी मिलाकर चबाया करते थे। यह खाद्य कुछ नीरस, कुछ रूखा होता था; परन्तु होता था बहुत पुष्टिकर। परन्तु आजकल तो कुली-कबाड़ी तक गरमागरम जलेबी खाते हैं। पहले लोग देवी-देवताओं के सम्बन्ध के गीत,

भजन, कवित्त तथा कथाएँ आदि सुना करते थे। राम और कृष्ण आदि के सम्बन्ध के तरह-तरह के ग्राम्यगीत गाये जाते थे। उन सब में वह आकर्षण, भाषा का वह लोच चाहे भले ही न रहा हो, किन्तु उन सब के पढ़ने-सुनने से आध्यात्मिक जीवन की उन्नति और परिपुष्टि हुआ करती थी। आज उन सब की जगह पर प्रेम की कविता का बोलबाला है। बिना डाढ़ी-मोंछ के युवक से लेकर अस्सी वर्ष के बूढ़े तक प्रेम-कविता लिखने में ही व्यस्त हैं।

खाने की दूकानों पर अलग-अलग थालों में तरह-तरह की चीज़ें बहुत उत्तम ढंग से सजाकर रक्खी रहती हैं। देखने में वे सब चीज़ें बहुत सुन्दर मालूम पड़ती हैं। परन्तु उन्हें खाने से बदहज़मी हो जाती है, गला जलने लगता है और कभी-कभी तो वमन तक होते-होते रह जाता है। मासिकपत्रों के पृष्ठों में भी कितने ही कवि कविता की पत्तल सजाये बैठे रहते हैं, परन्तु वह सब प्रेम-कथा पढ़ते ही हृदय में ज्वाला उत्पन्न हो जाती है; पाठकों के भी कवित्त्व का एक-आध फ़ौवारा झरने लगता है। तुरन्त की कड़ाही से निकाली हुई कचौड़ी, नमकीन और जलेबी बहुत मुलायम होती हैं, मुँह में डालते ही गल जाती है। परन्तु वही चीज़ ज़रा-सी ठंडी होते ही चर्बी या मूँगफली के तेल की बू देने लगती है, उसे मुँह में डालने की इच्छा ही नहीं होती। कविताएँ भी तुरन्त की प्रकाशित मासिकपत्रिकाओं के पृष्ठ काटकर पढ़ते समय बहुत

ही आकर्षक, बहुत ही रोचक जान पड़ती हैं, मन पर ख़ूब अच्छी तरह से जम जाती हैं। परन्तु वे ही कविताएँ यदि ज़रा सी ठंढी होगईं, और स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुईं, तो उनमें से अश्लीलता की बू निकलने लगती है, पुस्तक पढ़ने को जी नहीं चाहता (ये हलवाई की दूकानें जब तक उठा न दी जायँगी, तब तक नगरवासियों का स्वास्थ्य न सुधर सकेगा, प्रेम की कविताओं का बाज़ार भी जब तक न उठेगा, तब तक समाज का स्वास्थ्य न सुधर सकेगा।*)

जातीय मान या स्थानीय मान

हमारे समाज की अधिकांश स्त्रियाँ संख्यातत्त्व में शून्य जाति की हैं। शून्य का अपना कोई मूल्य नहीं है। जिस संख्या के बग़ल में वह बैठता है, उसी के बल पर उसका मूल्य निर्धारित होता है। स्त्री का मूल्य निर्धारित करते समय भी ठीक यही बात है। उदाहरणार्थ मुन्सिफ़ साहब की अर्द्धाङ्गिनी होने या ज़मींदार साहब की गृहस्वामिनी होने के कारण जिस स्त्री का आदर होता है, वही स्त्री यदि किसी मरभुखे ब्राह्मण या क़लम के बल पर टका-टका जोड़कर अपनी जीविका चलानेवाले कायस्थ के घर में पड़ गई तो उसे कोई नहीं पूछता। केवल विधाता के विधान पर ही इनका नगण्य और विशिष्ट होना निर्भर है। जातीय मान और स्थानीय मान का अन्तर स्त्रियों

*संभव है कि नवीन पाठक यह समझें कि लेखक को बदहज़मी और अजीर्ण हो गया है। कदाचित् यह बात मिथ्या भी नहीं है।

की इस प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा से खूब अच्छी तरह समझ में आ सकता है।

इसके अतिरिक्त, शून्य जिस संख्या के पास बैठता है, उसका मूल्य दसगुना बढ़ा देता है। इसी तरह सौभाग्य से जिस पुरुष को सद्गृहिणी मिल गई, उसके घर में लक्ष्मी अचला होकर रहती हैं। उसका कोठिला भर धान दस कोठिला हो जाता है, वह अपनी मुट्ठी में मिट्टी भी भर लेता है, तो वह सोना हो जाता है। परन्तु जो स्त्रियाँ सद्गृहिणी भी नहीं होतीं और स्वामी के प्रति अनुरक्त भी नहीं होती, पति के दाहिने चलने पर वे स्वयं बायें चलती हैं, उनके संसर्ग से पति की किसी प्रकार की उन्नति या अभ्युदय नहीं होता। जैसे वे शून्य रहती हैं, वैसे ही शून्य बनी पड़ी रह जाती हैं, किन्तु अपने पार्श्ववर्ती स्वामी को भी निरर्थक कर देती हैं।

मिट्टी का बरतन और कांसे का बरतन

बहुत सी स्त्रियाँ सुन्दरी नहीं होतीं, किन्तु उनमें न जाने कैसी एक मधुर आकर्षणशक्ति होती है कि उस गुण के ही कारण उनके साहचर्य्य से शान्ति और प्रीति लाभ होती है, साथ ही हृदय भी स्निग्ध एवं सरस होता है। ये स्त्रियाँ मानो मिट्टी के घड़े हैं, किन्तु इनके हृदय में सञ्चित प्रेम-रस खजूर के रस के समान मधुर और शीतल होता है। इसके अतिरिक्त कितनी ही स्त्रियों के रूप-यौवन सभी कुछ होता है; किन्तु उद्दाम-

सौन्दर्य्य में आकर्षण शक्ति विलकुल ही नहीं होती। उनके उस सौन्दर्य्य से चित्त को शान्ति नहीं मिलती, हृदय की पिपासा निवृत्त नहीं होती। ये सब पीतल के घड़े हैं, ऊपर से मँजे, धुले, दगदग चमक रहे हैं, परन्तु भीतर से बाढ़ के मटीले जल से परिपूर्ण हैं। प्रेम-पिपासा की निवृत्ति के लिए 'स्वादुः सुगन्धिः तुषारा वारिधारा' उनमें से नहीं उछल पड़ती।

न पुंस्वातन्त्र्यमर्हति

भगवान् मनु ने कहा है कि 'न स्त्रीस्वातन्त्र्यमर्हति' अर्थात् स्त्रियाँ किसी भी अवस्था में स्वतन्त्र नहीं रह सकतीं। और युगों में ऐसी बात अवश्य रही होगी, किन्तु 'कलौ पाराशरः स्मृतः' अर्थात् कलिकाल में सभी कुछ विपरीत है। इस युग में तो पुरुष किसी अवस्था में स्वाधीन नहीं है। छुटपन में माता या बुआ का आधिपत्य रहता है, युवावस्था में पत्नी या उसी प्रकारकी अन्य किसी रमणी की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती है और वृद्धावस्था में कन्या के अधीन अर्थात् कन्यादाय से ग्रस्त रहना पड़ता है। इसलिए मनु भगवान् के उस वचन को कलि में ज़रा परिवर्तित कर लीजिएगा—

माता रक्षति कौमारे पत्नी रक्षति यौवने।
भक्षन्ति स्थाविरे पुत्र्यः न पुंस्वातन्त्र्यमर्हति॥

तब और अब

तब लोग स्नान के पश्चात् कुशासन, ताम्र-पात्र और झाबी आदि लेकर बैठते थे, जिसमें पूजा की सामग्रियाँ गङ्गाजल,

पुष्प, विल्वपत्र, चन्दन तथा तुलसीदल आदि रक्खा रहता था। अब युवक-युवतियाँ स्नान से निवृत होते ही आइना, कंघी और ब्रुश लेकर बैठते हैं, पाउडर, ब्रुश, पमेटम, एसेन्स का सदुपयोग किया करते हैं। क्या इसी को सभ्यता कहते हैं?

देशी पंडित बनाम विलायती संस्कृतनवीस

हमारे देश के ब्राह्मण पण्डितों में अगाध पाण्डित्य है। कोई विद्यासागर हैं, कोई विद्याम्बुधि हैं और कोई विद्यार्णव हैं। परन्तु उनके विद्यारूपी वारिधि का एक बिन्दु भी जन-साधारण की ज्ञान-पिपासा के निवृत्त करने में नहीं उपयुक्त होता। पामर से पामर तक में भी ज्ञान का प्रचार करना वे अपने कर्तव्य के अन्तर्गत् नहीं समझते। यदि वे लोग इस बात का प्रयत्न करने पर तत्पर भी होगये तो उनकी भाषा इतनी कठोर हो जाती है कि हमारे आपके दाँत से फोड़ने के लायक़ नहीं रह जाती। सामने विशाल सागर लबालब भरा है, किन्तु पीने के योग्य मधुर जल एक बूँद भी नहीं है। उसे मुँह में डालते ही वमन का उद्रक होता है, तृष्णा की निवृत्ति नहीं होती। 'Water, water, everywhere, But not a drop to drink.'

इधर विलायती संस्कृत-नवीसों (Savants) का संस्कृत भाषा का ज्ञान बहुत ही परिमित होता है। थोड़ा बहुत जो होता भी है वह भी भ्रम तथा प्रमाद से सर्वथा-शून्य नहीं होता। परन्तु उस ज़रा से ज्ञान को भी जनता में वितरत

करने के लिए वे लोग सदा ही यत्न-शील रहते हैं। उन लोगों से हम फिर भी प्राचीन संस्कृत-साहित्य के सम्बन्ध की दो चार बातें मालूम ही कर सकते हैं। कूप की परिधि सङ्कीर्ण होती है। उसमें जल भी थोड़ा ही होता है। परन्तु इससे क्या होता है, पश्चिम के कुओं की जल बहुत मीठा होता है।*

विलायती ओक और देशी वटवृक्ष

ओक का वृक्ष इंग्लैंड के गौरव की सामग्री एवं विलायती पार्क की विराट् वनस्पति है। इसकी लकड़ी बहुत मजबूत होती है। इससे मेज़, कुर्सी तथा घर को सुसज्जित करने के और भी तरह-तरह के सामान बनाये जाते हैं। इस लकड़ी के ही बने हुए जहाज़ों पर बैठकर अँग्रेजों ने अपने वाणिज्य और राज्य का विस्तार किया है। वास्तव में गृहसज्जा, वाणिज्य-विस्तार तथा राज्य-समृद्धि अँगरेज़ों ने ओक के वृक्ष की ही बदौलत प्राप्त की है। इस प्रकार यह वृक्ष अँगरेजों की शोभा-समृद्धि का एक मात्र निदान और निदर्शन है।

इधर भारत का गौरव विराट वटवृक्ष है। इसके तख्ते से घर सजाने के सामान भी व्यापारिक तथा सामरिक जहाज़ नहीं बनाये जाते। परन्तु सूर्य्य के प्रचण्ड उत्ताप से जलते

*कोई-कोई साथ ही साथ कह बैठेंगे—हां, ऊपर का जल बहुत निर्मल होता है, किन्तु जब हम अधिक जल निकालने लगते हैं, तो कीचड़ आने लगता है।

हुए मैदान में बिना किसी प्रकार के सेवायत्न के, अनायास बढ़ी हुई यह विराट वनस्पति छायादान से श्रान्त पथिकों का क्लेश दूर करती है, फल के दान से पशुपक्षियों की क्षुधा का शमन करती है। इस महावृक्ष की सघन पत्तियों में न जाने कितने जीव आश्रयग्रहण किया करते हैं और इससे सैकड़ों नय-नये वृक्षों का उद्भव हुआ करता है। भोग-विलास या पार्थिव-ऐश्वर्य्य किसी भी युग में भारत की आर्य्य-सभ्यता का आदर्श नहीं था। इसने फल एवं छाया का दान करके विश्व के मानव की क्षुधा तथा श्रान्ति का अपनोदन किया है। भारत का ज्ञान-विज्ञान, गीता-उपनिषद् न जाने कितने काल से मानव-हृदय की दुःखयन्त्रणा का अपनोदन करके सुख-शान्ति का विधान करते आरहे हैं और भारत की पवित्र एवं शान्त सभ्यता से 'तिब्बत-चीने ब्रह्मतातारे' नयी-नयी सभ्यताओं का आविर्भाव हुआ है। इसी से कहता हूँ की वट-वृक्ष ही भारतीय प्रकृति का पवित्र आदर्श एवं निदर्शन है।

अल्पविद्या भयङ्करी

बहुत से लोग जहाँ जब मन में आया अपनी विद्याचमकाने लगते हैं। ऐसे विद्याभिमानी लोगों के सम्बन्ध में एक विदेशी लेखक का मत है कि जिस तरह तम्बाकू खानेवालों के कपड़ों लत्तों और मुँह में सदा तम्बाकू की झार बनी रहती है, वैसे ही इस तरह के लोगों की बात-चीत में भी सदा विद्या की चमक दिखलाने की चेष्टा का आभास मिला करता है। हम

लोगों में तम्बाकू का चलन इतना बढ़ गया है कि उस उपमा पर हमारा मन बैठता नहीं। इसलिए उक्त सम्बन्ध में तम्बाकू खानेवालों का उल्लेख न करके प्याज खानेवालों या लहसुन खानेवालों का उल्लेख किया जाता तो बात अधिक हमारे मन के अनुकूल होती।

मुझे ऐसा लगता है कि विद्या लाभ करना भी बहुत कुछ तेल लगाने या साबुन लगाने के समान है। तेल लगाकर खूब मलकर नहाने से तेल छूट जाता है, लेकिन तेल लगाने के कारण शरीर का चमड़ा खूब चिकना और मुलायम हो जाता है। ठीक इसी तरह वास्तव में विद्या लाभ करने पर स्वभाव-चरित्र, आचार-व्यवहार और बातचीत बहुत मुलायम हो जाती है। परन्तु गँवार आदमी ज़रा-सा तेल लेकर बहुत मुलायम हाथ से लगाता है, मानों उसकी किसी पीढ़ी में भी ज़रा-सा तेल नहीं मयस्सर हुआ। यही कारण है कि एक दिन के लिए जब वह किसी भले आदमी के यहाँ मज़दूरी करने आये, तब आध पाव तेल लेकर शरीर पर डाल लिया करे। सिर के बालों से चू-चूकर तेल बहने लगे। विद्याभिमानी का अवस्था भी ठीक वैसे ही है। कदाचित् कुल भर या गाँव भर में या शायद अपनी बिरादरी भर में उन्होंने ही कोई सुयोग पाकर ज़रा-सी विद्या उदरस्थ कर ली है, इसीसे वे अपनी चाल-ढाल और बातचीत में उसी को ज़ाहिर करते रहते हैं। पल-पल पर उनकी विद्वत्ता ही नहीं रोके रुका करती।

साबुन लगाने से शरीर का मैल कट जाता है, साथ ही चर्मरोग भी दूर हो जाते हैं। विद्या पढ़ने से भी मन का मैल कट जाता है, साथ ही चरित्र निर्मल होता है। परन्तु जब कोई अनाड़ी साबुन लगाता है तब माथे में और कान के आस-पास साबुन का ज़रा-सा फेन लगा रहने देता है, उसे अच्छी तरह से धोकर साफ़ नहीं करता। शायद वह लोगों को यह दिखलाना चाहता है कि मैंने साबुन लगाया है। विद्याभिमानी लोगों की विद्या का फेन उनकी बातचीत में लगा रहता है। इस दशा में उस आदमी की कथा याद आती है जिसे खाने को तो रूखी रोटियाँ भी नहीं मिलती थीं, किन्तु लोगों को दिखलाने के लिए कुत्ते को देने के बहाने से पूड़ी का टुकड़ा लेकर निकला करता था।

बुद्धि की गति-क्षम समानता

Mobile equilibrium of intelligence

मास्टरी करने से लोग क्रमशः मूर्ख होते जाते हैं, इस तरह का एक अपवाद है। शायद किसी देश में ऐसी भी प्रथा है कि दश वर्ष तक मास्टरी कर लेने के बाद फिर उस आदमी को कोई दायित्व का काम नहीं दिया जाता ! यह बात बिलकुल ही अनुचित नहीं है। मास्टर लोग सदा अपने से अल्पबुद्धि और अल्पविद्यावाले बालकों से मिलते रहते हैं, अपने से बढ़-कर विद्वानों तथा बुद्धिमानों से मिलने-जुलने की सुविधा वे नहीं पाते। इससे उनकी आत्मोन्नति का कोई उपाय नहीं

रहता। वे लोग मूर्खों को पण्डित बनाने के फेर में पड़कर दिन-दिन स्वयं मूर्ख होते जाते हैं। विद्यार्थियों के अभ्यासों (Exercise) का संशोधन करके उनकी स्पेलिंग दुरुस्त किया करते हैं, उसके साथ-ही-साथ स्वयं स्पेलिंग भुलाते भी जाते हैं। 'जितना ही दान करेंगे उतना ही बढ़ती जायगी' यह बात सोलह आना सच नहीं है।

इस तरह की घटना देखकर पदार्थ-विज्ञान की ताप की गति-क्षम समानता (Mobile equilibrium of temperature) नियम की याद आजाती है। एक कमरे में पाँच चीजें रक्खी हैं। उन पाँचों में से एक चीज़ खूब गरम है और शेष चारों ठंढी हैं। परन्तु थोड़ी देर के बाद देखने पर मालूम होगा कि वे चीज़ें भी बहुत कुछ गरम होगई हैं और जो चीज़ बहुत गरम थी, उसमें ठंढक आगई है, उसकी गरमी दूसरी चीज़ों में मिल गई है। इस तरह का ताप-विकरण यदि कुछ समय तक जारी रहा तो देखने में आवेगा कि कमरे की सभी चीज़ों में समान मात्रा में उष्णता आगई है। जो चीज़ें ठंढी थीं वे गरम होगई हैं और जो गरम थीं वह ठंढी होगई हैं। इसी को ताप की समानता कहते हैं। इस दिशा में भी यह देखने में आवेगा कि विद्यार्थियों की विद्या-बुद्धि उतनी ही घटी है। अन्त में बहुदर्शी मास्टर और दर्जे के मानीटर की विद्या-बुद्धि में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

———

६—विरह

वाल्मीकीय रामायण के अरण्यकाण्ड में, भवभूति के उत्तर-रामचरित में, हनूमद्विरचित महानाटक में, कालिदास के मेघदूत तथा वैष्णवकवि जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास, ज्ञानदास आदि की मधुरकान्त एवं कोमल पदावलियों में विरह-व्यथा का व्याख्यान सुनने में आता है। क्या सचमुच विरह असह्य-यन्त्रणामय होता है? क्या इसमें सुख का लेश, उल्लास या आवेश आदि है ही नहीं?

मैं तो समझता हूँ कि विरह में ही प्रेमिक को वास्तविक शान्ति एवं सुख मिलता है, विरह में ही माधुर्य्य और पवित्रता विराजमान है। मिलन में केवल आकांक्षा तथा भोग-लिप्सा, केवल अतृप्ति एवं उत्कण्ठा वर्त्तमान रहती है, सदा ही यह भय बना रहता है कि कहीं यह सारा सुख, सारा प्रेम-घट हमारे हाथ से निकल न जाय। वैष्णव कवि तो प्रेमतत्त्व के विशेषज्ञ थे। वे लोग मिलन-सुख का वर्णन करते समय यह स्वीकार कर बैठे थे—'जनम अवधि हम रूप नेहारनु नयन न तिरपित भेल'। अर्थात् मैं जन्म-पर्य्यन्त रूप देखता रह गया परन्तु नेत्र तृप्त नहीं

हुए। यह तो दारुण अतृप्ति, अनन्त पिपासा की बात है ! तब फिर मिलन में सुख कहाँ ?

परन्तु प्रेमिक यदि रूप का चाक्षुष प्रत्यक्ष न करके, प्रिय-पदार्थ को दूर रखकर, मानसचक्षु से उस रूप को ही 'निहारि-निहारि लाख युग धरि' ध्यान करता है, तब फिर वह अतृप्ति नहीं आती, विमल शान्ति और परिपूर्ण प्रीति से हृदय और मन भर जाता है। विरह में आवेग नहीं है, आकांक्षा नहीं है, सम्भोग नहीं है, उत्कण्ठा नहीं है, आशा और निराशा के घात-प्रतिघात से हृदय रूपी समुद्र में उर्मिमाला की क्रीड़ा तथा उत्थान-पतन नहीं होता। यह अचल और प्रशान्त विशाल सागर के समान, निवात निष्कम्प प्रदीप के समान, सर्व्वंसहा, भगवती वसुन्धरा के समान स्थिर, धीर और गम्भीर है।

यहाँ उस विरह की चर्चा नहीं की जा रही है जो दिन-दोपहर के लिए प्रियजन से मुलाक़ात न होने पर ही अधीरता आजाती है। उस क्षणिक अदर्शन को, उस 'पल में प्रलय' को मैं विरह नहीं कहता हूँ। प्रतीची के एक श्रेष्ठ कवि ने—'Lovers' absent hours More tedious than the dial eitht score times. O weary reckoning!' 'For in a minute there are many days' आदि कहकर उस क्षणिक वियोग को बढ़ाया बहुत है। परन्तु फिर भी मैं उसे विरह नहीं मानता हूँ। कुबेर के किङ्कर यक्ष के वर्ष-भोग्य विच्छेद को भी विरह कहकर इस विराट् अनुभूति की अवमानना न

करूँगा। इस श्रेणी के विच्छेद के सम्बन्ध में आलङ्कारिकों ने अलबत्ता एक बहुत बड़ी बात कही है। वह यह है—"न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमाप्नुयात्" अर्थात् वियोग के विना सम्भोग पुष्टि को नहीं प्राप्त होता। वङ्किमचन्द्र ने भी कहा है कि 'प्रेम का परिपाक वियोग में होता है।' किन्तु उस क्षेत्र में मिलन की आशा हृदय में सजीवता का सञ्चार करती है। जिस विरह में मिलन की आशा नहीं है, जिस विरह में जीवन-पर्य्यन्त प्रियजन का दर्शन मिलने की सम्भावना नहीं रहती, उसी को विरह कहता हूँ। वह विरह योगी की समाधि के समान शान्ति, प्रीति तथा पवित्रता से परिपूर्ण है। देह के समस्त सम्बन्धों को काटकर और समस्त इन्द्रियों का निरोध करके प्रिया का ध्यान करते-करते समस्त चराचर-जगत् तनमय हो उठता है, भीतर और बाहर वही विश्व-व्यापिनी प्रेममयी देशकाल से परे होकर अनन्त के साथ मिल जाती है। इसके समस्त मिलन का सुख कितनी नाचीज़ है! साढ़े तीन हाथ के परिमाण की देव-प्रतिमा की उपासना करने से निम्न कोटि के साधक का उपकार भले ही लक्षित हो सके; परन्तु उच्च कोटि के साधक को तो विश्वरूप का दर्शन मिले बिना सुख मिल ही नहीं सकता। जो बात ब्रह्मतत्त्व में है, वही प्रेमतत्त्व में भी है।

एक बात और है। मिलन में स्थूल और सूक्ष्म तथा आलोक और अन्धकार दोनों ही रहते हैं। उस दशा में प्रिया के

रूप-गुण पर मुग्ध होते अवश्य हैं, किन्तु मनुष्यमात्र ही गुण-दोष से जड़ित रहता है परन्तु उसमें जो कुछ दोष रहता है, वह 'गुण के सन्निपात में' छिपता नहीं, कविगण चाहे कितनी ही छन्द-रचना क्यों न करें ? इसी से आलोक में छाया आ-पड़ती है, पूर्ण चन्द्रमा में कालिमा की रेखा परिलक्षित होती है, प्रेमप्रतिमा भी खण्डित-जान पड़ती है, जिसके कारण प्रकृत उपासना की अङ्गहानि होती है। कदाचित् क्षणिक मान-अभिमान, विराग-विद्वेष के काले मेघ से हृदय-रूपी आकाश की शुभ्रता मलिन हो जाती है, चित्त शुद्धि के अभाव से आराध्य देवता के साथ अखण्ड योग नहीं संस्थापित होता। परन्तु जिस समय प्रेम का आस्पद दूर रहता है, दृष्टि के समक्ष नहीं उपस्थित रहता, उस समय थोड़ा-बहुत जो अँधेरा रहता है, वह भी दूर हो जाता है, जो कुछ स्थूल होता है, वह जाता रहता है, आदर्श-ज्योति तथा आदर्श प्रीति से हृदय-रूपी कमल मुकुलित होता है, ज्योतिर्मयी की ज्योति से चिदाकाश अलोकित होता है, विश्व मधुमय हो उठता है। उस समय वह प्रेमास्पद ही मनुष्य के समस्त ध्यान एवं ज्ञान का एक-मात्र आधार बन बैठता है, उसके पहले के मान-अपमान की, उसकी ज़रा-ज़रा सी बातों की, एकाग्र-मन से वह चिन्तन किया करता है।

किसी कवि ने एक बहुत ही भावपूर्ण पद्य लिखा है। उसका तात्पर्य्य है "बहुत दिनों के बाद तुम्हें पा सका, इससे केवल ताकता ही रह गया।" क्या ही अच्छी बात है। पाजाना बड़ी

उत्तम बात है। परन्तु इस पा जाने का फल क्या हुआ? क्या केवल अन्तश्चक्षु और वहिश्चक्षु को भर-भरकर ताकते ही ताकते इस 'पा जाने'—इस 'मिलन'—का पर्य्यवसान होता है? ताकते-ताकते नेत्रों में बिजली चमकती, विलीन होती और फिर चमकने लगती है, हृदय रूपी तट पर तरङ्गें उठती रहती हैं और प्रेम-रूपी सागर में ज्वार दिखाई पड़ता है। विमल प्रणय का निर्झर काम के रूप में परिणत होता है, सम्भोग के कर्दम से प्रीति का निर्झर गंदा हो जाता है, अनुराग के मलयमारुत से आवेश की लँगड़ी आँधी की सृष्टि होती है। उस दशा में अनन्त सान्त हो जाता है, अनङ्ग साङ्ग हो जाता है और प्रेम काम में डूब जाता है। छिः क्या वह प्रेम है? वह तो रूप की तृष्णा है, काम की लोलुपता है! उसकी अधिष्ठात्री देवी रति या (Venus) वीनस है देह-द्वयार्द्धघटित रचना हर-गौरी नहीं हैं।

इसी से तो कहता हूँ कि मिलन में सुख नहीं है, शान्ति नहीं है, माधुर्य्य नहीं है। धैर्य्य-स्थैर्य गाम्भीर्य्य एवं औदार्य्य कुछ भी नहीं है। विरह ही प्रेमिक को यथार्थ कामना की वस्तु है। हम सूक्ष्मदर्शी प्राचीन कवि की हाँ में हाँ मिलाकर यह कह सकते हैं—

सङ्गमविरह विकल्पे वरमपि विरहो न सङ्गमस्तस्याः।
सङ्गे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे॥

———

७–पान

प्रत्नतत्त्व

पान भारतवर्ष में कितने काल से है ? इस आकस्मिक प्रश्न का समुचित उत्तर देने के लिए यूनान का इतिहास खोजना पड़ेगा। बात यह है कि यूनान ही प्राचीन सभ्यता की जन्मभूमि है। सम्भव है कि कुछ लोग दम्भ के साथ यह कह बैठें कि प्राच्य जगत् के भारतवर्ष, चीन, मिस्र आदि देशों में ही पहले-पहल मानव-सभ्यता का अभ्युदय हुआ है। परन्तु इस अन्ध-विश्वास की कोई भित्ति नहीं है। आर्य्यजाति का आदिम निवास योरपखण्ड में बाल्टिक सागर के तटपर या उसके आस-पास के किसी अन्य स्थान पर था, यह बात अभ्रान्त सत्य है। दूसरों की बात तो जाने दीजिए, ब्राह्मणकुल-तिलक बालगङ्गाधर तक इसी ओर झुके हैं। इस कारण सभ्यता का विकास सबसे पहले पश्चिम में ही हुआ है, इस सारतत्त्व को अनार्य्यों के अतिरिक्त और कोई भी अस्वीकार न करेगा। इस दशा में पान की जन्म-कथा के सम्बन्ध में विचार करते समय प्राचीन सभ्यता के केन्द्रस्थल यूनान देश

की भाषा तथा इतिहास का अनुसन्धान करके देखना आवश्यक है, यह बात क्या बार-बार कहनी पड़ेगी।

इस अनुसन्धान-कार्य्य में प्रवृत्त होते समय लेखक के मार्ग में ज़रा-सी बाधा पड़ जाती है। यह बाधा है ग्रीक भाषा की पूर्ण अज्ञता। परन्तु तत्त्वानुसन्धान के क्षेत्र में इससे कोई विशेष हानि नहीं हो सकती। यह बात तो सभी को ज्ञात है कि भाषा-तत्त्व पर विचार करते समय आरम्भ में भाषा पर अधिकार होना आवश्यक नहीं है। इस क्षेत्र में अभिधान ही हमारा सब से बढ़कर सहायक है। शब्दों का चुनाव अभिधान की सहायता से बड़ी आसानी और सुन्दरता के साथ हो जाता है। श्रेष्ठजनों के द्वारा प्रदर्शित किये हुए इस सुगम मार्ग का अनुसरण करके मैं जिस सिद्धान्त पर उपनीत हुआ हूँ उसे पाठक-समाज में उपस्थित करता हूँ।

ग्रीक भाषा में पैनिक (Panic) शब्द देखा जता है। इस शब्द का अर्थ है "अकारण-आतङ्क"। जिस प्रकार वैष्णव-धर्म में अहेतुकी अर्थात् अकारण प्रीति है, ठीक उसी तरह एक अहैतुकी भीति भी है। दिनमान का समस्त कोलाहल स्तब्ध होने पर अर्द्धरात्रि में शयन-गृह में प्रदीप के निर्वाण लाभ करने पर उस सूचीभेद्य अन्धकार में जब केवल ज्ञान-चक्षु ही उन्मीलित रहता है, उस समय सभी लोग उस अहेतुकी सत्ता का अनुभव करते हैं। यह अनुभूति ही ग्रीक भाषा में पैनिक नाम से विख्यात है। देशीभाषा में इसे हम 'भूत-का-भय' कह सकते हैं।

यहाँ शब्द के अर्थ का विचार करने में निरर्थक वागाडम्बर न रचकर केवल यही बात एकाग्रभाव से देखनी चाहिए कि इस शब्द से हम कौन-सा ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध कर सकते हैं। वास्तव में शब्दार्थ समझने के लिए ही अधिक प्रयत्न करने में निरर्थक समय नष्ट करना ठीक नहीं है। केवल एक शब्द का अवलम्बन करके भूरि-भूरि ऐतिहासिक तथ्यों का आविष्कार करना ही आधुनिक गवेषणा-प्रणाली (Modern method) का उद्देश्य है।

अँगरेज़ी में एक कहावत है कि History repeats itself अर्थात् इतिहास स्वयं अपनी पुनरावृत्ति करता है। इस ग्रीक-पैनिक शब्द से यह अच्छी तरह से समझ में आजाता है कि वर्तमान युग में हम लोगों में जो पाणातङ्क (पान खाने से नफ़रत) देखने में आता है, आज से बहुत समय पहले इसी तरह का एक पाणातङ्क यूनान देश में भी देखने में आया था। इस पैनिक शब्द का प्रादुर्भाव उसी का परिणाम है। बहुत सम्भव है कि उसी समय से पश्चिम में पान खाने की प्रथा उठ गई हो। हम भी क्या इस सुयोग में पश्चिम की सुसभ्य जातियों का अनुसरण नहीं कर सकेंगे? कालक्रम से इस पैनिक शब्द का अर्थ व्यापक होता गया और यह हर प्रकार के अमूलक आतङ्कों का बोध कराने के लिए व्यवहृत होने लगा। अर्थ की इस प्रकार की व्याप्ति (Extension) भाषातत्त्व में एक मोटी बात है।

आइये, अब इस बात पर ज़रा विशेष रूप से विचार करें। यूनान में जिस समय पान का आतङ्क उत्पन्न हुआ था, उस समय वहाँ पान खाने की प्रथा विद्यमान थी, यह बात तो स्वतःसिद्ध है। यूनानी भाषा के Pantheon, Pancratium, Panathenaic आदि शब्दों से भी इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। इन सब बातों से यह बात स्पष्ट रूप से प्रमाणित होती है कि पान ग्रीक भाषा के "पैन" शब्द का अपभ्रंश है। Pancreatic Juice चिकित्सा-विज्ञान में एक बहुत ही महत्त्व की वस्तु है। इसकी भी उत्पत्ति इस पान से ही हुई है। यही कारण है कि पाकस्थली में पड़े हुए भोजन को सरलतापूर्वक पचाने के लिए भोजन के उपरान्त पान खाने की व्यवस्था की गई है। ऐसा करने से Pancreatic Juice अर्थात् पान से बना हुआ रस अधिक मात्रा में निकलता है।

किसी-किसी का कहना है कि यूनान के निवासियों में पैन (Pan) नामक एक वनचर देवयोनि थी, उसी के नाम के आधार पर पैनिक (Panic) शब्द की निष्पत्ति हुई है। इसीलिए एक कहावत है कि "अल्पविद्या भयङ्करी" अर्थात् थोड़ी विद्या भयङ्कर होती है। ये पल्लवग्राही पण्डित यह नहीं जानते कि उक्त पैन (Pan) देव आरम्भ में पान के अधिष्ठाता देव थे और जिस वन में वे निवास करते थे, वह व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं से सङ्कुल कण्टकाकीर्ण वन नहीं था, बल्कि पान का बरज (पनवारी) था। जो कल्पनाकुशल, सौन्दर्य-

प्रिय ग्रीक-जाति प्रकृति के प्रत्येक वृक्ष और लता में, प्रत्येक पुष्प में देवता का सञ्चार देखती थी, उस जाति के ही लोग कवित्वरस से अभिषिक्त प्रेमिक-प्रेमिका के रसमय आलाप के नित्य सहचर पान की ही बारी आने पर इस भाव को भूल गई थी; क्या यह सम्भव है? क्रमशः ग्रीक जाति का मन जब विस्तृत हो गया तब पैन अर्थात् रोमीय फ़नस् इस पान-पत्र से लेकर समस्त् उद्भिद् प्रकृति के देवता हो पड़े। पर पल्लवग्राही पण्डितों का केवल इतना ही ज्ञान है कि "पैन वन के देवता हैं"!

इन बातों से यह तो प्रमाणित हो गया कि पान कहाँ था। अब विचार इस बात का करना है कि इस मधुर पान को भारतवर्ष में कौन ले आया।

यह बात सर्वसम्मत है कि प्राचीनकाल में फिनीशीय जाति व्यापार में बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। वाणिज्य अर्थात् व्यापार के ही बल पर अपना निर्वाह करनेवाली इस जाति के नाम से ही संस्कृत के वणिक (वाणिज) आपण, विपणि, पण, पण्य, आदि वाणिज्य-व्यवसाय-सम्बन्धी शब्दों की उत्पत्ति हुई है। संस्कृत में इस प्रकार विदेश से आये हुए शब्दों का अभाव नहीं है, इसे वैयाकरण स्वीकार करते हैं। उच्चारण की विषमता से फिणीक वणिक हो गया है। इसी फिणीशीय जाति से ही यूनानियों तथा भारतवासियों ने वर्णमाला तथा संख्या आदि के लिखने का ढंग सीखा है, इस बात को बड़े-बड़े विद्वान्

कह गये हैं। यूनान और भारतवर्ष, इन दोनों ही देशों के साथ इस जाति का व्यापारिक सम्बन्ध था। इसी से यह स्थिर होता है कि यही जाति पहले-पहल यूनान से भारत में पान ले आयी थी। सम्भव है कि यूनान में पाणातङ्क (Panic) आरम्भ होने पर दूसरे देशों में पान के भेज देने की व्यवस्था की गई हो।

वेद में पणि नाम से इस जाति का उल्लेख किया गया है। आर्य्यों को अल्प स्वर अधिक पसन्द था, इसलिए फ़िनीशियन या प्यूनिक (Punic) शब्द पणि हो गया। इस 'पणि' शब्द से ही पाण शब्द बना है। बाद को पौराणिककाल में जब लोगों को वैदिक काल के आचार और रीतियाँ भूल गयीं, तब, वास्तविक व्युत्पत्ति के स्मृति-पट पर से लुप्त हो जाने के कारण, एक नयी व्युत्पत्ति बन गयी, इस व्युत्पत्ति के अनुसार पर्ण शब्द से पाण की निष्पत्ति हुई है। तात्पर्य्य यह है कि विशुद्ध विदेशी शब्द 'पाण' को संस्कृत करके पर्ण शब्द का आविष्कार किया गया। पुत्र, असुर आदि शब्दों की भी व्युत्पत्ति के समय ऐसी ही बात हुई है। विदेश से लाये जाने के कारण गोभी और शलगम के समान पान से भी कितने ही शुद्धाचारी ब्राह्मण तथा ब्रह्मचर्य्यव्रत-धारिणी विधवाएँ आज तक परहेज करती हैं। कुछ दिनों तक विदेश से मँगाने के बाद उद्यमशील व्यापारियों ने इस देश में ही इसकी खेती करना आरम्भ कर दिया। इसमें सन्देह नहीं कि गङ्गा के किनारे-

किनारे व्यापारिक केन्द्रों में ही इसकी खेती आरम्भ हुई थी और आज भी ऐसे ही स्थलों में उत्तम श्रेणी का पान पाया जाता है।

पान का जो कार-बार करता है, उसे लोग 'बारुई' या बरई कहते हैं। अनुमान होता है कि स्मरणातीत काल में एक सम्प्रदाय के लोग यूनान देश के Pherae नामक स्थान से भारतवर्ष में आये। ये सब पहले भारतवासियों के साथ पान का व्यापार करने के विचार से आये थे। परन्तु धीरे-धीरे ये यहीं पर बस गये और यहाँ की भूमि में पान उपजाने लगे। ठीक इसी तरह आज दिन कितने ही हिन्दू व्यापारी अफ्रीका और अमरीका में स्थामी रूप से बसते जा रहे हैं। अस्तु, अपने देश के नाम पर ही यह जाति बारुई (बरई) के नाम से अभिहित हुई है। इस जाति के लोगों की बाड़ी भी, जहाँ ये पान की खेती करते हैं, 'बरेज' कहलाती है। हिन्दू-समाज की स्वभावसिद्ध-सङ्कीर्णता के दोष से यह विदेश से आयी हुई जाति शाकद्वीपीय ब्राह्मणों के समान हिन्दू-समाज में भली-भाँति मिल नहीं सकी।

पान का एक दूसरा नाम ताम्बूल है और उसका कारबार करनेवालों का एक सम्प्रदाय तमोली या तम्बोली नाम से अभिहित है। ताम्बूल इस्ताम्बूल (Stambul) से आया था इसलिए इसका ऐसा नामकरण हुआ है या प्राचीन ताम्रलिप्ति एवं वर्तमान तमलुक में पहले-पहल इसका कार-बार करनेवाले

बसे थे, अथवा दक्षिण भारत की 'तामिल' जाति के साथ इसका कोई सम्बन्ध है, इन सब जटिल प्रश्नों के सम्बन्ध में समयाभाव के कारण किसी स्थिर सिद्धान्त पर उपनीत ही नहीं हो पाया हूँ। अनुमान से पहलेवाला सिद्धान्त ही सत्य प्रतीत होता है, क्योंकि इस्ताबूल के निवासी सदा से ही शौक़ीन रहे हैं।

यह अनुमान यदि सत्य माना जाय तो बाज़ार में जो डामरू पान के नाम से बिकता है, सम्भवतः वही इस्ताम्बूल से लाया गया है। मुसलमान भाई धैर्य रक्खेंगे। एक ही वस्तु का भिन्न-भिन्न काल में भिन्न-भिन्न देशों से आना मानव इतिहास में कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं है। इंग्लैंड तथा भारतवर्ष में ईसाई-धर्म का आगमन अँगरेज़ी-भाषा में लैटिन शब्दों का सम्मिश्रण आदि ऐतिहासिक उदाहरणों का अभाव नहीं है।

भाषा-तत्त्व

अब भाषातत्त्व की दृष्टि से भी इस सम्बन्ध में ज़रा-सा विचार करना आवश्यक है। यह शब्द वास्तव में 'पान' है या 'पाण' इसमें कुछ मतभेद की सम्भावना है। पहले इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि यह शब्द वैदिक भाषा के 'पणि' शब्द से सिद्ध हुआ है। परन्तु यत्र-तत्र (हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में प्रायः सर्वत्र) इसे 'पान' कहा करते हैं। इस दन्त्य नकार के प्रयोग करने का कदाचित् यह भी कारण है कि पान

दाँतों से चबाया जाता है। कुछ लोगों ने तो यह भी सिद्धान्त स्थिर किया है कि जल खाने के बाद ही पान खाना होता है, इसलिए लक्षणावृत्ति के द्वारा पान शब्द का अर्थ ताम्बूल होता है। परन्तु उक्त वैदिक भाषा के अनुसार 'परिण' शब्द से 'पाण' की निष्पत्ति होने के कारण इस शब्द से मूर्द्धन्य णकार को कोई हटा ही नहीं सकता। इसके अतिरिक्त वैदिक भाषा को यदि छोड़ भी दें तो लौकिक भाषा के व्याकरण के मत से भी पर्ण शब्द का अपभ्रंश 'पाण' होता है।*

अस्तु, इस विचार से भी ज्ञात होता है कि मूर्द्धन्य 'णकार' का प्रयोग युक्तिसङ्गत है। परन्तु सम्भव है कि कोई तर्कशील व्यक्ति व्याकरण का सूत्र उद्धृत करके यह कह बैठे कि अपभ्रंश होने पर जब रेफ का अभाव होगया, तब णत्वविधान की तो गुंजाइश ही नहीं रह गई। क्योंकि 'निमित्तस्यापाये नैमित्तिकस्याप्यपावो भवति'। अर्थात् 'जिसको निमित्त मानकर कोई कार्य्य होता है, उसका अभाव हो जाने पर उस नैमित्तिक कार्य्य का भी अभाव हो जाता है।' परन्तु यह बात विज्ञान-सम्मत नहीं है।

*पाण यानी पान अन्य समस्त पर्णों में श्रेष्ठ होता है अतएव इस अकेले ने ही पूरे नाम पर अधिकार कर रक्खा है। जिस तरह सम्बन्धियों में जिसके साथ और सब की अपेक्षा अन्तरङ्ग सम्पर्क होता है, वही सम्बन्धी Par excellence अर्थात् सब से अच्छा बन बैठता है। रघुवंश के सिंह से इसीलिए 'सम्बन्धिनो मे प्रणयम्' कहकर दिलीप ने दोहाई दी थी, इति सुधीभिर्भाव्यम्।

पहले जो स्थान द्वीप था, अब उसमें द्वीप के लक्षणों का अभाव होजाने पर भी उसके द्वीप नाम का अभाव नहीं होता। उदाहरणार्थ जम्बूद्वीप एवं अग्रद्वीप का उल्लेख किया जा सकता है। मनोविज्ञान और शरीर-विज्ञान के आधार पर भी जब किसी अङ्ग का अभाव हो जाता है तो उस अङ्ग की अनुभूति का अभाव नहीं होता। मनोविज्ञान के एक ग्रन्थ मैंने पढ़ा है कि एक सैनिक के पैर का अँगूठा कट गया था, किन्तु फिर भी कभी-कभी उस अँगूठे के स्थान पर बहुत ज्यादा खुजलाहट मालूम पड़ा करती थी। जीवित भाषा में भी सजीव शरीर के अनुसार स्नायुमण्डल वर्तमान है। अङ्ग के कट जाने पर भी इस स्नायुमण्डल का व्यापार बराबर होता रहता है। इस प्रकार रेफ का अभाव होने पर भी इस शब्द के णत्व का भी अभाव हो जायगा, यह कहना उचित युक्ति नहीं है। बल्कि इस प्रकार के वर्णविलास से व्युत्पत्ति के ज्ञान में सहायता मिलती है। 'पाण' और 'पान' इन दोनों के प्रभेद के लिए भी इसका प्रयोजन है।

विज्ञान

अब व्याकरण की चखचख छोड़कर इस देशव्यापी आतङ्क के निदान का निर्णय करने के लिए प्रवृत्त होना चाहिये। पान में किस तरह और किस कारण से कीड़ा लग गया? कच्चे बाँस में घुन लग जाने की बात तो ज्ञात है। परन्तु पान में

कीड़ा लगने की बात तो बड़े विस्मय की है। कोंहड़ा, मूली, और बैगन आदि में कीड़े लग जाते तो कोई बात नहीं थी। हग साहेब के बाज़ार से 'मटन' लाकर खा लेने से ही काम चल जाता। हमारे छुटपन में एक बार मछली में कीड़े पड़े थे। मुझे ज़रा-ज़रा याद आता है। परन्तु उस समय किसी-किसी ने चौमासा किया था और किसी-किसी ने बहुत ही सुविवेचना के साथ मत्स्य का परित्याग करके उसके स्थान में मांस खाकर ही 'कथमपि परित्यागदुःखं विषेहे' अर्थात् किसी प्रकार परित्याग का दुःख सहन कर लिया। रंगपुर की तराई में पके आम में कीड़े देखने में आते हैं। परन्तु इससे कोई विशेष हानि नहीं होती, क्योंकि उस ओर कटहल अधिकता से होता है। परन्तु पान में कीड़े, यह तो असह्य है, अकथ्य है, अवाङ्मनसगोचर है! होगा, वैज्ञानिक तत्त्व का निर्णय करते समय निरर्थक प्रलापपूर्ण वाक्यों का प्रयोग करने से कोई लाभ नहीं है।

किसी-किसी वैज्ञानिक का कथन है कि हेली के धूमकेतु का जब पृथिवी के साथ सङ्घर्ष हुआ था, तब बहुत ही अधिक मात्रा में उल्कापात हुआ था। परन्तु बहुत प्रयत्न करके भी वे लोग उस उल्कापिंड का ध्वंसावशेष जल, स्थल या अन्तरिक्ष में नहीं पासके। क्या यह सम्भव नहीं है कि उस उल्का-समूह के सूक्ष्म अणु पान के बरज यानी पनवारी में गिरे हों और वे अण्डाकार अणु भादों की प्रचण्ड धूप में फूटकर कीड़ों के रूप

में दिखाई पड़ने लगे हों। एक समाचार-पत्र के प्रेषक ने नील, पीत और हरिद्रा आदि विभिन्न रंग के कीड़े स्वयं अपनी आँखों से देखे हैं। इन्द्रधनुष ने ही चूर-चूर होकर इस तरह का वर्णवैचित्र्य घटित किया है, यह कौन जान सकता है? जो लोग आकाशतत्त्व के ज्ञाता हैं, वे ही इन सब (Hypothesis) अनुमानों की सत्यता के सम्बन्ध में अपना अभिमत प्रकट कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह की सम्भव है कि भारतवर्ष से बाहर, नीलनद के तट पर या दक्षिण अमरीका के वन-प्रदेश में कहीं ऐसा व्यापार संघटित हुआ हो, जिसके फल-स्वरूप यह गड़बड़ी हुई हो। क्योंकि आजकल के एक वैज्ञानिक ने बहुत गवेषणा करके और बहुत से नवाविष्कृत यन्त्रों की सहायता से यह प्रमाणित किया है कि भारतवर्ष की अतिवृष्टि और अनावृष्टि का कारण दक्षिण अमरीका के वन-प्रदेश में निहित है। "अपरं किं भविष्यति ?"

पान के कीड़ों का निदान निर्णय करने के लिए अभी कुछ समय अपेक्षित है। किन्तु रायबहादुर श्रीयुत चुन्नीलाल बसु ने समाचार-पत्र में यह घोषणा कर दी है कि अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से उन्हें पान में कोई कीड़ा नहीं दिखाई पड़ा, यद्यपि कितने ही लोग सादी आँखों से ही कीड़ों को देख रहे हैं और वैज्ञानिकप्रवर गैलिलियों के स्वर में स्वर मिलाकर कह रहे हैं—"Still it moves"! इस समय भी यह चल रही है। रायबहादुर की भविष्यवाणी यदि सत्य निकली, तो मैं कहता

हूँ कि चुन्नी बाबू के मुँह में फूल-चन्दन—राम-राम—पान-सुपारी पड़े। आतङ्क निग्रह करके वे हिन्दू-समाज के धन्यवाद के पात्र हो गये हैं। अब बात इतनी ही रह गई कि मुसल्मान-समाज से भी कोई ख़ैर ख़ाँ हकीम मुश्किल-आसान कर देते, तो सोने में सोहागा मिल जाता, या यों कहिये कि पान में चूना और खैर समान हो जाता। इस प्रकार बँगला माता की दोनों ही सन्तानें माता के दोनों गालों में चबाया हुआ पान खाकर धन्य हो जातीं*।

जो भी हो, यह हलचल यदि अधिक समय तक जारी रही तो बंगालियों का धर्म-कर्म, बंगालियों का सामाजिक जीवन और बंगालियों का साहित्य सब रसातल को चला जायगा, बंगालियों के उन्नति-रूपी वृक्ष में कीड़े लग जायँगे। यह हलचल यदि शान्त न होगई तो फिर बंगालियों की बैठक में पान-तम्बाकू और पर-निन्दा का अनुपान न चल सकेगा, बङ्गालियों की गृहस्वामिनियाँ स्वामी के वशीकरण के अभिप्राय से पान के साथ जड़ न खिला पावेंगी, बंगाली वीर अब पान में चूना कम हो जाने पर अन्दर के समराङ्गण में कुरुक्षेत्र का-सा काण्ड नहीं मचा पावेंगे। विवाह के समय स्त्रियाँ सूखा आँवला पीस-कर बंगाली वर के गालों में पान के साथ मोहर नहीं कर पावेंगी। यहाँ तक कि श्रीसत्यनारायण की कथा के समय भी

*अन्तिम बात से कोई हिन्दू-मुसल्मानों के भ्रातृभाव का आभास पाकर आतङ्कित तो न हो उठेंगे?

देवता को पान के बीड़े न चढ़ाये जायँगे। वैद्यजी पान के रस में दवा देने की न व्यवस्था कर सकेंगे और न ब्राह्मणभोजन के पश्चात् रजतखण्ड-दक्षिणा के साथ पान दिखाई पड़ेगा। चपरासी साहब को पान खाने के लिए चवन्नी बख़्शीस भी न मिलेगी !

अब रह गई बात काव्य-साहित्य की। कम-से-कम काव्य की दृष्टि से विचार करने पर तो पान में कीड़ों का लग जाना अच्छा ही हुआ, क्योंकि कवियों को एक नयी उपमा तो मिल गयी। आज तक यही साधारण व्यवस्था थी कि चन्द्रमा में कलङ्क है, वसन्त-वायु में गरल है, कुसुम में कण्टक है; युवती के मुख में व्रण है, और रमणी के हृदय में कपट है। अब पान में कीड़ा भी होगया। इस तरह संसार में सर्वाङ्ग-सुन्दर कोई भी वस्तु न रह गई। परन्तु यह नयी उपमा आरम्भ में मनोरम और परिणाम में विषम है। मैं तो दिव्यदृष्टि से यह देख रहा हूँ कि ताम्बूल-रस के अभाव से शीघ्र ही भारतीयों के जीवन और उनके साहित्य में काव्य-रस का अत्यन्त अभाव हो जायगा। क्या साहित्यपरिषद् के विज्ञान-पिपासु सभापति महोदय तथा सभासद महानुभावों ने यह सर्वनाश की बात एक बार सोचकर देखी है ?

पहले ही देखिये, कलकत्ते की गली-गली में जो पंखहीन परियाँ मीठे पान के बीड़े के साथ ही साथ मीठी-मीठी बातें भी बेचा करती थीं, उनका दर्शन ही दुर्लभ होगया है। हाय ! अब हम 'काव्य की उपेक्षिता' ताम्बूलकरङ्कवाहिनी पत्रलेखा

के सुलभ संस्करणों को न देख पावेंगे। स्त्री-स्वाधीनता के उन ज्वलन्त चित्रों को न देख पाने के कारण समाज-सुधार एवं धर्म-सुधार की ओर हमारा उस तरह का निस्स्वार्थ अनुराग और उत्साह नहीं उत्पन्न होगा। (Aesthetic culture) सौन्दर्य्य-चर्चा का ऐसा सुगम मार्ग, ऐसा सुलभ सहायक, फिर न मिल सकेगा। हाय, इंग्लिशमैन' और 'प्रवासी' पत्र के तीव्र आन्दोलन से जो कार्य नहीं सिद्ध हो सके, उसे एक ज़रा से कीड़े ने अपनी करामात के बल पर निष्पन्न कर दिया।

"अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः।"

कोमल वस्तु की हिंसा के लिए अन्तक कोमल वस्तु का ही उपयोग करता है। पानवालियों के संहार के लिए 'इंग्लिशमैन का वज्र और 'प्रवासी' का कोड़ा काम न दे सका, किन्तु एक ज़रा से कीड़े ने अनर्थ उत्पन्न कर दिया।

अब दुरन्त शिशु को सुलाने के लिए बुआ और मौसी पान के बीड़ों से गाल फुला-फुलाकर लोरियाँ गाने न आया करेंगी। इससे नयी माताओं (अर्थात् नव-प्रसूता स्त्रियों) को काव्यचर्चा एवं प्रणय-चर्चा का अवसर ही न मिल सकेगा। (क्योंकि बच्चा सोवेगा ही नहीं) अँगरेज़ी-नवीस कवि अब भारतीय स्त्री के रूप-वर्णन में 'तम्बाकू और ताम्बूल के रस से ओष्ठों को रँगे, कहकर पाठकों के समक्ष उपस्थित करके असर न जमा सकेंगे। पान की बहार उठ जाने पर प्रेमिक भी पहले की तरह अपनी प्रेमिका का मुँह पकड़कर—"प्रियतमे, तुम्हारी कृति देखकर

हँसी आती है। तुम्हारा चिबुक क्या है रक्तवर्ण की गङ्गानदी है।" ऐसा कह कर उसे प्यार न कर सकेंगे। हम लोग भी विलास-भवन में उस पान के साथ ही हृदय का विनिमय न देख पावेंगे। नवविवाहित वर-वधू भी अपनी दाम्पत्य-लीला में उस तरह की छीना-झपटी, उस तरह मधुमय पान के रंग से अतिरञ्जित अधरामृत का पान न कर सकेंगे। कालेज से लौट कर घर आने पर फिर उस तरह पान का डिब्बा सामने रक्खे हुए कत्थे-चूने के रंग से रञ्जिताङ्गुलि, ताम्बूलरस से रञ्जिताधरा न्यग्रोधपरिमण्डला* कुट्टिमासीना* स्रस्तवसना मनोहारिणी रमणी-मूर्ति न देख पावेंगे। (पतन और मूर्च्छा)

---

* परम सुन्दरी।

* चबूतरे पर बैठी हुई।

८—अँगरेजी भाषा और साहित्य

दार्शनिक-प्रवर ड्यूगैल्ड स्टुअर्ट ने अपनी प्रगाढ़ गवेषणा के बल पर एक विचित्र सिद्धान्त स्थिर किया है। वह सिद्धान्त यह है कि पलासी-युद्ध के बाद Pax Britannica की बदौलत जब भारतवर्ष अक्षुण्ण शान्ति-रस से अभिषिक्त था, उसी समय कुछ बैठे-ठाले ब्राह्मणों ने मिलकर संस्कृत भाषा की सृष्टि की। इस तरह की अत्यधिक दुर्बोध-भाषा का आविर्भाव राजनीति के किसी न किसी गूढ़ उद्देश्य से किया गया होगा, ऐसा अनुमान करना भी कदाचित् असङ्गत न होगा। इसके विरुद्ध अँगरेजी भाषा संस्कृत के समान अर्वाचीन या 'भुँइफोड़' भाषा नहीं है, यह बहुत ही प्राचीन है। जो लोग भुक्त-भोगी हैं, उनका कथन है कि इसके आदि-अन्त का पता नहीं चलता। साथ ही यह भाषा सजीव भी है, जिसे अँगरेजी में कहते हैं 'living and kicking' तड़ाक-फड़ाक चलती-फिरती है। हिब्रू, ग्रीक और लैटिन के समान यह बासी मुर्दा भी नहीं है। बहुत कुछ छान-बीन करने के बाद इस भाषा के क्रम-विकाश के सम्बन्ध में मैं जो कुछ जान पाया हूँ, वह निवेदन कर रहा हूँ। आप लोग सावधान होकर सुनें।

यह बात तो सभी लोग जानते हैं कि हृदय का भाव गुप्त रखने के लिए ही भाषा की उत्पत्ति हुई है ('Language was given to man to conceal his thoughts')। इससे ज्ञात हुआ कि सत्य-युग के सरलप्रकृति के लोगों को इस तरह की आवश्यकता नहीं थी, इसलिए पहले भाषा की सृष्टि नहीं हुई। कारण के बिना कार्य्य की उत्पत्ति ही नहीं होती, यह दर्शनशास्त्र की एक साधारण सी बात है।

त्रेता-युग में किष्किन्ध्या में अँगरेज़ी भाषा का सूत्रपात हुआ था। इसका प्रमाण यह है कि आनन्द में अधीर होने पर पूर्व-पुरुषों की 'हिप-हिप', 'हुप-हुप' ध्वनि आदिम संस्कार के कारण लोगों के मुँह से आज भी अपने आप निकल आती है। डारविन के सिद्धान्तों का अनुशीलन करके ही आप इस रहस्य को हृदयङ्गम कर सकेंगे। बाद को बड़ी ख़ून-ख़राबी और मार-काट के बाद लङ्का विजय करके यह वीर-जाति 'सात-समुद्र तेरह नदी' पार हुई और उत्तर-मेरु के समीपवाले प्रदेशों में क्रमशः छिटक गई। तब वहाँ की तुषार-राशि में यह भाषा जमने लगी। समय पाकर इस अस्थिर प्रकृति की 'घुमक्कड़' जाति ने श्वेत द्वीप में अपना उपनिवेश स्थापित कर लिया। वहाँ की भूमि और जल-वायु के प्रभाव से भाषा भी ख़ूब ज़ोरदार हो उठी। परन्तु पहले-पहल व्याकरण का बन्धन बहुत कठिन होने के कारण प्रतिभाशाली लेखकों को तरह-तरह की असुविधायें होने लगीं। उनमें से अधिकांश ने और कोई

उपाय न देखकर फ्रेंच और लैटिन आदि भाषाओं की शरण ली। हमारे देश में भी अपने देश और जाति की भाषा का परित्याग करके विदेशी भाषा का आश्रय ग्रहण करना विद्यार्थी-समाज और विद्वत्-समाज की प्रथा प्रचलित है। अस्तु, आगे चलकर व्याकरण के नियमों के बहुत कुछ ढीले पड़ जाने पर भाषा की उन्नति बड़े प्रवल वेग से हुई। आजकल भारतीय भाषाओं, बँगला तथा हिन्दी आदि में भी इस तरह के शुभ लक्षण देखने में आये हैं, उन्हें देखकर हृदय में आशा का सञ्चार होता है कि शीघ्र ही हमारा साहित्य भी 'उन्मत्त केशरी' के समान 'बहुबलधारी' होकर गगनभेदी नाद करके अपनी कीर्ति की पताका उड़ाने में समर्थ होगा।

बँगला साहित्य के इतिहासकार रायबहादुर डाक्टर दीनेशचन्द्र सेन तथा हिन्दी-साहित्य के कर्णधार रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दर दास के सत्पथ का अनुसरण करके पहले भाषा के सम्बन्ध में लिखा गया, अब साहित्य का परिचय दिया जायगा। परिचय होगा बहुत संक्षिप्त, बहुत कुछ एक साँस में सातकाण्ड रामायण के समान।

अँगरेज़ी-साहित्य के इतिहास की आलोचना के लिए अग्रसर होते ही एक अति अद्भुत रहस्य हमारी दृष्टि पर पड़ता है। ग्रन्थकारों का वास्तविक नाम जानना एक प्रकार से असम्भव-सा है। जार्ज एलियट, पीटर पालि आदि (Pseudonyem) छद्म नाम पाठक समाज में सुप्रसिद्ध हैं। इससे यह स्पष्ट

ही है कि लेखक-गण बहुत ही चालाक थे। समालोचक-समुदाय के तीव्र कषाघात की आशङ्का से उन लोगों ने अपना-अपना नाम ही परिवर्तित कर दिया था। संस्कृत-साहित्य में भी वेद-पुराण आदि के रचियताओं ने सम्भवतः इसी आशङ्का से सारा बोझ वेदव्यास की ही पीठ पर लादकर निश्चिन्त मन से विश्राम किया था। अस्तु, हम जिन अँगरेज़ ग्रन्थकारों को उनके परिचित नामों से जानते हैं, उन सब का (१) गुणकर्म विभागशः, (२) धर्मानुसार, (३) जाति-व्यवसाय के हिसाब से और (४) वर्ण अर्थात् रंग को ध्यान में रखकर श्रेणी-विभाग किया जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि नितान्त निकृष्ट लेखकों के ही नाम वर्ण के अनुक्रम से दिये गये हैं। क्रमशः उन सब का उदाहरण दिया जा रहा है। जैसे, गुण-कर्म-विभाग से—

(क) (Sterne) स्टर्न बहुत ही परुष स्वभाव के थे, इसलिए उनका ऐसा नामकरण हुआ है। उनकी लिखी हुई पुस्तकों के भी नाम इसी तरह लट्ठमार हैं। जैसे ट्रिस्ट्राम शैंडी (Tristram Shandy), सेंटीमेंटल जर्नी (Sentimental Journey) (इन दोनों में ही टकार की टंकार है)

(ख) (Steele) स्टील अपने प्रारम्भिक जीवन में सैनिक थे। उसी अवस्था में उन्होंने ग्रन्थ-रचना की थी, यही कारण है कि उन्होंने एक असि-जीवी के अनुकूल यह नाम ग्रहण किया था।

(ग) (Lamb) लैम्ब ने अपनी निरीह प्रकृति के बल पर यह संज्ञा प्राप्त की थी। केवल इसी एकमात्र कारण से समालोचकों ने इन्हें Gentle (सज्जन) और Saints (साधु) विशेषणों से विभूषित किया है।

(घ) कृषक-कवि Burns (बर्न्स) समस्त जीवन प्रेम की अग्नि में ही जलते रहे, इसीलिए पाठकों ने आदर करके उनका नाम बर्न्स रक्खा है।

(ङ) (Keats) कीट्स ने बहुत ही दीनभाव प्रदर्शित करके 'कीट्स' के नाम से अपना परिचय दिया है। साथ ही उनमें आत्म-गरिमा की भी मात्रा काफ़ी थी, इसीलिए गौरव प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने बहुवचन का प्रयोग किया है।

(च) (Marlowe) मार्लो की स्वाभाविक मृत्यु नहीं हुई। अटपट जगह में एक नीच आदमी के हाथ से उनकी अकाल मृत्यु हुई थी, इसीलिए उनका नाम सर्लो के स्थान पर मार्लो पड़ गया।

(छ) (Gay) गे बहुत ही फ़ुर्तबाज़ थे। इसीलिए उन्होंने बड़े शौक़ से यह ख़िताब लिया था। उनके Beggar's opera, Polly आदि नाटकों में बहुत ही स्फूर्ति का परिचय मिलता है। जीवन के सम्बन्ध में वे कह गये हैं—

'Life is a jest, and all things show it ;
I thought so once, and now I know it.'

(ज) (Swift) स्विफ्ट ने अपनी क्षिप्रगति के कारण ही यह संज्ञा प्राप्त की थी। एक ही छलाँग में वे श्वेतद्वीप से मरकत-द्वीप (Emerald Isle) में और मरकत-द्वीप से श्वेत द्वीप में आया-जाया करते थे। राजनैतिक क्षेत्र में भी ह्विग-पार्टी से कूदकर टोरी-पार्टी में जाने में उन्होंने काफ़ी तेज़ी दिखलाई थी। इसके अतिरिक्त स्टेला के प्रेम-तरु से वैनेसा के प्रेम-तरु पर भी उन्होंने प्लवङ्गगति से ही आरोहण किया था। यह भी उनकी क्षिप्रकारिता का एक निदर्शन है। स्विफ्ट ने अपना समस्त जीवन भ्रमण में ही व्यतीत किया था और उस भ्रमण का समस्त वृत्तान्त गुलिवर की यात्रा (Gulliver's travels) नामक पुस्तक में अभिव्यक्त किया है। यह एक बहुत ही सुपाठ्य और प्रामाणिक ग्रन्थ है। अँगरेज़ी भाषा में और भी भ्रमण कहानियाँ हैं। जैसे Robinson Crusoe, Peter, Wilkins, Pilgrim's Progress, Traveller, Wanderer, Excursion, The wandering jew. इत्यादि।

२—चिरकुमार व्रतधारी कैथलिक संन्यासी होने के कारण एक कवि ने पोप (Pope) की आख्या प्राप्त की थी। उनका Rape of the Loch (पुरानी स्पेलिंग है, हम प्राचीनता के पक्षपाती हैं) एक तालाब के सम्बन्धी मुकदमे के सम्बन्ध में लिखा गया है। सुनने में आया है कि उनकी लेखन-कुशलता के कारण वादी तथा प्रतिवादी दोनों ही दल के लोग इतने सन्तुष्ट हुए थे कि आपस में ही मामले का निपटारा होगया था।

हाय रे वह युग! पोप के Essay on criticism नामक पद्यमय काव्य की एक गद्य-व्याख्या तथा आलोचना प्रकाशित हुई है। इसके लेखक हैं विख्यात कवि और समालोचक मैथ्यू आर्नल्ड। पोप बड़े ही गुणग्राही व्यक्ति थे। समकालीन कवियों का गुणगान करके Iliad और Aeneid के आधार पर उन्होंने एक महाकाव्य लिखा है, जिसका नाम है Dunciad या मूर्खायण। राजे-रजवाड़ों का स्तवगान न करके अकिञ्चन कवियों को काव्य का नायक निर्वाचित करना क्या हृदय की विशालता का परिचायक नहीं है? परन्तु पोप कैथलिक थे, केवल इसीलिए उनके चरित्र के सम्बन्ध में अँगरेज़-समाज में तरह-तरह की निन्दाजनक बातें प्रचलित हैं। धर्मान्धता भी कितनी भयङ्कर वस्तु है।

३—(Goldsmith) गोल्डस्मिथ अर्थात् स्वर्णकार। इनकी ग्रन्थावली विद्यार्थी-समाज में सुपरिचित है। Blacksmith का अर्थ है लोहार। पूरा नाम यह नहीं मिलता। ब्लैक और स्मिथ ये दोनों ही शब्द अलग-अलग पाये जाते हैं। जिस तरह भट्टाचार्य्य के दो पुत्रों ने स्थावर-जंगम, सभी प्रकार की सम्पत्तियों का विभाग करते समय पैतृक उपाधि को भी दो भागों में विभक्त कर दिया और बड़े ने भट्ट तथा छोटे ने आचार्य्य की उपाधि ग्रहण करली। इस प्रकार उपाधि के अपने-अपने भाग पर अधिकार जमाकर वे लोग वंश-परम्परा से उसका उपभोग करते आ रहे हैं। उक्त क्षेत्र में भी इसी प्रकार का व्यापार देखने में आता है। पखावज कटकर बायाँ तबला होगया है। ब्लैक

शाखा के विलियम ब्लैक ने कई एक उत्तमोत्तम आख्यायिकायें तथा पूर्वोक्त स्वर्णकार कवि का एक जीवनचरित लिखा है। (किसी-किसी का प्यार का नाम ब्लैकी भी है)। स्मिथ शाखा के एडम स्मिथ ने अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में, और बर्नर्ड स्मिथ, हैम्बिलन् स्मिथ तथा चार्ल्स स्मिथ आदि ने गणित के सम्बन्ध में पुस्तकें लिखी हैं। जिस तरह हमारे देश में भट्ट शाखा की अपेक्षा आचार्य्य शाखा ने ही विद्वत्ता में अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है, उसी तरह इंग्लैंड में भी ब्लैक शाखा की अपेक्षा स्मिथ शाखा ही विशेष रूप से शक्तिशालिनी हो उठी थी। एक बात और भी ध्यान में रखने योग्य है। सभ्य देश में उच्च-नीच सभी प्रकार के लोगों में विद्या का प्रचार है। परन्तु लोहार-कुम्हार चाहे कितने ही अधिक विद्वान् हों, उनके द्वारा उच्च कोटि की रचना कदापि सम्भव नहीं है। यहाँ इस बात का प्रमाण भी हाथ ही हाथ मिल गया। इधर सभ्य जातियों में जो सभ्यता की खान हैं, उस सभ्य-शिरोमणि फ्रेंच जाति में भी यह देखने में आता है कि (Zola) जुलाहे तक ने भी काव्य लिखा है, परन्तु वह बहुत ही कुरुचिपूर्ण है। कुल की कानि जायगी कहाँ?

४—(अ) (White) ह्वाइट—इनका हृदय बहुत ही साफ़ था। ये एक सीधे-सादे आदमी थे, सीधी-सादी भाषा में चिड़ियों की कथा लिखकर एक किताब पूरी की है।

(ब) (Browne) ब्राउन नामधारी कई लेखक थे। सम्भवत: ये सब फिरिङ्गी थे। (स) (Gray) ग्रे—विज्ञता के कारण

अल्पावस्था में ही इनके बाल पक गये थे—'वार्द्धक्यं जरसा विना' अर्थात् बिना वृद्धावस्था के ही वार्द्धक्य आगया। ग्रे बहुत ही अच्छे कवि थे। विश्वनिन्दक जान्सन ने भी ग्रे की 'एलिजी' की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। ये सदा इतिहास की आलोचना में ही मस्त रहा करते थे। इनकी Anatomy बहुतों ने पढ़ी है। (द) (Green) ग्रीन—ये निरामिषभोजी (Vegetarian) थे, इसलिए माँसभोजी अँगरेज़ जाति ने व्यङ्ग्य कसकर इन्हें यह संज्ञा प्रदान की थी। इनका लिखा हुआ इतिहास एक बहुत ही सुन्दर ग्रन्थ है।

(Black) ब्लैक इस श्रेणी का नाम नहीं है, क्योंकि विलायत में काला रंग होता ही नहीं। इस नाम का रहस्य पहले ही उद्घाटित कर चुका हूँ।

और भी कितने ही ऐसे नाम हैं जो ऊपर निर्दिष्ट की हुई किसी भी श्रेणी में नहीं आते। जैसे—

(Scott) स्काट—इनका नाम अज्ञात है। जीवनकाल में ये (Great unknown) बहुत ही अपरिचित कहे जाते थे। सुविधा के लिए लोग इन्हें इनकी जन्मभूमि के नाम से ही पुकारा करते थे। माद्री, कैकेयी तथा गान्धारी आदि नामों की व्युत्पत्ति भी तो ऐसी ही है।

एक और बहुत बड़े कवि थे। वे बहुत ही हास्यप्रिय थे। हास्य का लक्षण ही यही है कि अवसर मिलने पर अपनी-भी

हँसी उड़ाने से न चूके। इसीलिए उन्होंने एक कठोर व्यङ्ग्य के साथ अपना नाम रक्खा था (Dry-den) ड्राइडेन—अर्थात् सूखी मँडार। तात्पर्य्य यह था कि यथेष्ट आहार न मिलने के कारण उनके शरीर का उदरनामक विशाल-गह्वर (मँडार) सूखकर सङ्कुचित हो गया था। ड्राइडेन के समय के लोगों ने इनकी प्रतिभा का आदर नहीं किया, इसीलिए इनका शिकायत का भाव इतना प्रबल था। महाकवि कालिदास की यह शिकायत कि "अन्नचिन्ता चमत्कारा कातरे कविता कुतः" (अर्थात् अन्न की चिन्ता बहुत ही भयङ्कर होती है, उसके कारण व्यग्र होने पर कोई कविता कहाँ से कर सकता है)। ड्राइडेन की शिकायत से प्रायः मिलती-जुलती है। पेट की चिन्ता से ये उदार-अनुदार और नर्म-गर्म सभी दलों में सम्मिलित हुए थे। (हमारे देश में भी इस प्रकार के स्वनामधन्य व्यक्ति बहुत कम संख्या में नहीं हैं।) कभी ये उत्तम दल में मिल जाते और कभी मध्यम। इनके छद्मनाम के अनुरूप ही इनके ग्रन्थों के भी नाम विचित्र ढंग के हैं। Absalom and Achitophel, Albion and Albanius, Amboyna, Annus Mirabilis, Astraea Redux, Aurangzebe. एक A. से ही यथेष्ट परिचय पागये। अन्तिम

सुप्रसिद्ध मुग़ल बादशाह का जीवन-वृत्तान्त है। नाटक के रूप में यह लिखा गया है। प्रामाणिकता की दृष्टि से यह 'रूलर आफ़ इंडिया सिरीज़ (Ruler of India

Series) के ग्रन्थ की अपेक्षा किसी अश में भी निकृष्ट नहीं है। *

सुषेण के वंशधर अनायास ही पहचाने जा सकते हैं, जैसे (Addison) एडिसन = आदिसेन (Johnson) जानसेन = जनसेन, (Pattison) पैटीसन = पत्तिसेन, (Thomson) टमसन = तमःसेन, (Harrison) हेरिसन = हरिसेन, (Tennyson) टेनिसन = तनुसेन, (Hudson) हडसन = हठसेन, Richardson) रिचर्ड्सन = ऋचार्दसेन। ये सब बंगाल के सेन राजाओं, विशेषतः बल्लालसेन और लक्ष्मणसेन के कुटुम्बी हैं, या नहीं इस सम्बन्ध में अनुसन्धान करने की आवश्यकता है। वंश-प्रवर्तक सुषेण का स्मरण करके सब को 'बाप का बेटा' कहने की इच्छा होती है। (Emerson) एमर्सन् = अमरसूनु इनके कोई नहीं हैं।

---

*The poet's Mussulman Princes make love in the style of Amadis, preach about the death of Socrates, and embellish their discourse with allusion to the mythological stories of Ovid. The Brahminical metempsychosis is represented as an article of the Mussulman creed and the Mussulman Sultans burn themselves with their husbands after the fashion (History ch. 14)

पहले हमारे देश के ही समान कदाचित् विलायत में भी 'कवियो की लड़ाई' हुआ करती थी। अँगरेजी साहित्य की आलोचना करने पर आज भी इस बात का कुछ न कुछ प्रमाण मिलता है। जैसे कैम्बेल का Pleasure of Hope, राजर्स का Pleasure of memory, एकेनसाइड का Pleasure of Imagination, वार्टन का Pleasure of Melancholy ये चार रंग की सुख की चार कहानियाँ हैं।

(१) आदिकवि (Chaucer) चौसर का काव्य हमारे ऋग्वेद के समान 'चासा' अर्थात कृषकों का गीत है। इसीलिए इसकी आलोचना करते हुए एडिसन (Addison) ने unpublished strain कहकर अवज्ञा प्रकट की है।

(२) स्पेंसर एक साथ ही दार्शनिक और कवि दोनों थे। बड़े-बड़े समालोचकों का कथन है कि उनका (Fairy Queen तथा Data of Ethics दोनों ही का मूल्य समान है।

(३) शेक्सपियर अँगरेजों में बहुत ही श्रेष्ठ कवि थे। Shakespear नाम से यह प्रमाणित होता है कि इनके कुल में क्षत्रियों के आचार का प्रतिपालन किया जाता था। यही कारण है कि उन्होंने मध्ययुग के नाइटों (knights) की प्रथा के अनुसार वास्तविक नाम छिपाकर इस प्रकार की अभिधा-ग्रहण की थी। होमर के ही समान इनके भी जीवन की

कहानी रहस्य के गर्भ में है। यहाँ तक कि इनकी जन्म-तिथि तक ठीक-ठीक नहीं पाई जाती। इसीलिए एक अँगरेज़ कवि ने लिखा है—"He was not of an age but for all time" अर्थात वे किसी एक युग के नहीं, बल्कि सदा के थे। बँगला के सुप्रसिद्ध कवि हेमचन्द्र वन्द्योपाध्याय ने भी कहा है—'भारतेर कालिदास जगतेर तुमि' अर्थात भारत के कालिदास हैं और संसार के तुम हो। शेक्सपियर का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ हेमलेट (Hamlet) है। नाम से ही स्पष्ट है कि यह एक ग्राम्य चित्र है। वास्तव में इस तरह का उत्कृष्ट और स्वाभाविक वर्णन संसार के साहित्य में दुर्लभ है। Not a mouse stirring आदि कविताओं का क्या फिर से नया परिचय देना होगा? पहले जिस स्वर्णकार-कवि का उल्लेख किया जा चुका है, उसने Deserted Village नाम से इस ग्राम्यचित्र का एक (sequel) उपसंहार लिखा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उसके हाथ में पड़कर शेक्सपियर का खरा सोना मिट्टी होगया है। स्वदेश-भक्ति से प्रणोदित होकर शेक्सपियर नाटक के आकार में इंग्लैंड का एक धारावाहिक इतिहास लिख गये हैं, यह युद्ध-विग्रह के विचित्र विवरणों से परिपूर्ण है। इससे भी स्पष्ट प्रतीयमान होता है कि शेक्सपियर युद्ध-व्यवसायी थे। विख्यात रणवीर मार्लबरो और विख्यात राजनीतिज्ञ फ़क्स इसे पढ़कर ही अपने देश के इतिहास के पण्डित होगये थे। अपने देश के इतिहास पर मातृभाषा के समान स्वल्प प्रयत्न से ही

अधिकार प्राप्त किया जा सकता है, यह सभी कृतविद्य भारतीय से परिचित है।

(४) बेकन (Bacon) ब्राह्मण की सन्तान के लिए अस्पृश्य हैं। परन्तु जातिभ्रष्ट करनेवाले विदेशियों के विद्यालय के दूषित-वायुमण्डल में इनकी भी रचना को थोड़ा-बहुत पढ़ना-पढ़ाना पड़ा है। बहुत सी हिन्दू स्त्रियाँ जिस तरह धर्मनिष्ठ होने पर भी व्यक्ति-विशेष की इच्छापूर्ति के लिए निषिद्ध माँस रींधने तथा परोंसने को बाध्य होकर किसी तरह जाति-रत्ता करती हैं, वैसी ही अवस्था मेरी भी है।

(५) मिल्टन और एक श्रेष्ठ कवि थे। पृथिवी पर जन्म ग्रहण करने से पहले ये स्वर्ग के देवता थे। मर्त्यलोक में आकर भी उस देव-चरित्र में अणुमात्र सन्देह नहीं होने पाया। ब्रह्मा के शाप से ये स्वर्ग से भ्रष्ट हुए थे, और पृथिवी का पाप इनसे देखा न जायगा, इसीलिए जन्मान्ध होकर पैदा हुए थे। अन्धे होने के कारण ही उन्होंने उँगलियों के पोर पर गणना करना नहीं सीखा था, इसलिए उनके महाकाव्य में छन्दों में ठीक-ठीक यति और तुक नहीं पाया जाता। सुप्रसिद्ध समालोचक-जानसन रोग तो पहचान गये, परन्तु निदान का निर्णय नहीं कर सके। लैटिन भाषा पर भी मिल्टन का ख़ासा प्रभाव था। इस भाषा में तीन उत्तम-उत्तम काव्य लिखकर इन्होंने काफ़ी यश प्राप्त किया है। अपने रचे हुए दो महाकाव्यों में वे स्वयं लिख गये हैं कि

स्वाधीनता-सङ्ग्राम में मैं स्वर्ग से भ्रष्ट हुआ हूँ और जीवन का अन्त होने पर फिर स्वर्ग प्राप्त कर लूँगा।

(६-७) मिल्टन के बाद-ड्राइडेन और पोप का नम्बर आता है, जिनका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है।

(८) कूपर (Cowper) को कविता करने का रोग लगा है अवस्था परिपक्व होने पर। इनकी कविता के प्रवल-प्रवाह में खाट तो वह ही गई थी ('I sing the sofa') साथ ही कुत्ता, बिल्ली, खरगोस, मेढ़ा, आदि पशु-पक्षी भी बहे थे। भाग्य की बात थी कि इस प्रवाह से सामने ऐरावत नहीं पड़े। कूपर की (John Gilpin) जौन गिल्पिन नामक कविता एक हँसी की कविता है। उसका नाम जौन गिल्पिन न होकर यदि जौन खिलखित होता तो और भी अधिक मेल खाता। Pairing time anticipated शृङ्गार-रस की कविता है। इस बाल-विवाह के देश में इस कविता का अधिक से अधिक प्रचार वाञ्छनीय है। (On the Receipt of Mother's Picture) जननी के चित्र-दर्शन पर कविता का शैशव में ही माता की गोद से बिछुड़ा हुआ मैं किस तरह परिचय दूँ। मेरे भाग्य में तो चित्रदर्शन तक नहीं बदा था। कवि के ही शब्दों में मातृदेवी के प्रति यही कहने का जी चाहता है—त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवं नहि-क्षाम्यति।

(९) बायरन एक गुणवान् व्यक्ति थे। स्वभाव के उच्छृङ्खल होकर भी ये गौराङ्ग के भक्त थे और गौराङ्ग की लीला के

सम्बन्ध में ही इन्होंने एक काव्य भी लिखा है। उच्चारण की विषमता के कारण वह 'जौर' (Giavoûr) नाम से परिचित है। वाल्यावस्था में ही उन्होंने तीर्थयात्रा की भी और तीर्थयात्रा में ही इनका शरीरान्त भी हुआ है। इस तीर्थयात्रा का विस्तृत इतिहास Childe Harold's Pilgrimage में लिखा है। शेक्सपियर के समान ये भी रण-विशारद थे, यह बात तो इनके वाय-रण नाम से ही स्पष्ट है। स्काट के समान ये ऐतिहासिक भी थे। इन्होंने डोन जुआन (Don Juan) नाम से स्पेन का एक सामाजिक इतिहास लिखा है। यह वहुत प्रामाणिक ग्रन्थ है। विशेषज्ञों के मुँह से सुना है कि Mr. Ameer Ali की लिखी हुई History of the Saracens वहुत अंशों में उक्त ग्रन्थ की ऋणी है। परी का उपन्यास लिखने में भी वायरन सिद्धहस्त थे। Parisina परीशिना अर्थात् परीसोना या सोनापरी (सोना का बिगड़ा हुआ अँगरेज़ी रूपान्तर Sina या Cinna है।) उसका परिचय है। अमेरिकन कवि होम्स के ही समान चिकित्सा-शास्त्र में भी इनकी अत्यधिक व्युत्पत्ति थी। (The two Foscari) दो प्रकार की 'फ़ोस्करी' के सम्बन्ध में ये एक निवन्ध लिख गये हैं। यह निबन्ध होम्स के Puerperal fever तत्त्व से किसी भी अंश में न्यून नहीं है। कहावत है कि गाँव में गाँव के योगी को भिक्षा नहीं मिलती। इससे विलायत में बैठे-बैठे थीसिस Thesis लिखकर वायरन स्वभावतः प्रशंसा प्राप्त करने से वञ्चित रह गये। हमारे देश के लोग गुणग्राही होते हैं।

यहाँ यदि कोई इस तरह का गुण दिखलाता तो वह बेखटके डी० एस्-सी० की उपाधि प्राप्त कर लेता। परम्परा से सुनने में आया है कि बायरन तथा इनके मित्र शेली (Shelley) सभी विषयों में स्वाधीनता के मन्त्र के ही उपासक थे, अतएव ये विलायत से निर्वासित किये गये थे।

(१०-११-१२) वर्ड्स्वर्थ, शेली और ब्राउनिंग को समझने के लिए जब एक स्वतन्त्र सभा (Society) करने की आवश्यकता पड़ती है, तो इस निबन्ध में उनकी चर्चा करना ही निरर्थक है।

(१३-१४) ब्राउनिंग दम्पती ने काव्य-जगत् में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त की है। कहा जाता है कि एक की कविता सुनकर दूसरी उससे अनुरक्त हो उठी और माता-पिता की अनिच्छा होने पर भी वह महिला उक्त कवि के साथ परिणय-सूत्र में आबद्ध हो उठी। हमारे देश में भी इसी तरह की एक घटना होते-होते रह गई। ऐसी घटना हो ही क्योंकर सकती है। हम तो अभागे हैं।

(१५-१६) डिकन्स तथा डिकून्सी (Dickens, De Quincey) पति-पत्नी दोनों ही कविता किया करते थे। किन्तु उन दोनों में पारस्परिक अनुराग नहीं था। डिकन्स का शायद साली से कुछ पक्षपात था। यह तो कोई ऐसी बात न थी, क्योंकि मनुष्य के लिए ऐसा करना स्वाभाविक है। परन्तु डिकून्सी इसे नहीं सहन कर सकीं। बङ्किम बाबू की कुन्द के समान उन्होंने भी अफ़ीम खा लिया था। परन्तु प्रेम की रीति ही यही है कि

'यदि करी विषपान तथापि ना जाय प्राण' लाभ केवल यह हुआ कि थोड़ी-थोड़ी खाते-खाते वे अफ़ीम खाने में पकी होगईं। स्वामी के मुँह में चूना और कारिख पोतने के लिए उन्होंने 'Confession of an opium-eater' लिखकर बीच बाज़ार में भंडाफोड़ कर दिया (जिसे अँगरेज़ी में कहते हैं—'Washing one's dirty linen in public,) डिकन्स फिर अँगरेज़-समाज में मुँह नहीं दिखला सके। बेचारे करते क्या? निरुपाय होकर कुछ दिनों तक अमरीका में मुँह छिपाये पड़े रहे। डिकन्स के 'Pickwick Papers', State Papers में सम्मिलित हैं। उनमें राजनीति के बहुत से गुह्य तत्त्व सन्निवेशित हैं। खनिज विद्या पर इनका असाधारण अधिकार था। David Copperfield के पढ़ने से यह भली-भाँति समझ में आता है। इनका 'Tale of two cities' फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का, 'Hard Times' दुर्भिक्ष का और 'Dombey and Son' यौथ कारबार का सजीव चित्र है।

(१७) (Thackeray) थैकरे की जन्मभूमि कलकत्ता है। इनके पूर्वज तीन पीढ़ी से भारत में ही निवास करते आये हैं। आज भी (Thacker) थैकर की दूकान उनके जन्मस्थान की स्मृति-रक्षा करती आ रही है। थैकरे के Vanity Fair में जगत के बाज़ार की बहुत सी सूचनायें मिल जाती हैं। इनकी सबसे अच्छी आख्यायिका है Esmond. इस आख्यायिका के पढ़ने से यह उत्तमशिक्षा मिलती है कि स्त्री यदि छोड़कर चली

जाय तो उसके स्थान पर काम चलाने के लिए विधवा सास से भी विवाह या निकाह किया जा सकता है। बलिहारी है इस रुचि की।

(१८) भीष्म द्रोण निहत हुए, शल्य हुए महारथी। शेक्सपियर, मिल्टन, वायरन, शेली, वर्ड्स्वर्थ तथा टेनिसन आदि क्रमशः संसार से विदा होगये। अब कवि हुए किप्लिंग (Kipling) इनके सम्बन्ध में भी कुछ लिखना आवश्यक है। ये हैं हमारे व्यासदेव के समान। (परन्तु जन्म के सम्बन्ध में नहीं कह रहा हूँ।) इनकी मृत्यु नहीं है। वाल्मीकि से भी इनकी बहुत कुछ समता है। प्रारम्भिक जीवन में ये दोनों ही भिन्न-भिन्न मार्गों के पथिक थे। बाद को एक दिन एकाएक कवि बन बैठे। इन्होंने दो खण्डों में आत्मचरित लिखा है। इस पुस्तक का नाम है Jungle Book या आरण्यकाण्ड। किष्किन्ध्या काण्ड की भी कुछ कथा इसमें है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जार्ज एलियट, पिटर पार्लि आदि के समान किलिंग भी कल्पित नाम है। (संस्कृत के क्रुप् धातु से निपातन से यह सिद्ध हुआ है।) वास्तविक नाम है Mowgli (संस्कृत मौद्गल्य शब्द या अपभ्रंश?) उनके लिखे हुए जीवन-चरित में यह मिल सकेगा।

उपसंहार में दो और महापुरुषों का नाम-कीर्त्तन करके यह निबन्ध समाप्त किया जायगा। इन दोनों में से एक हैं बर्क (Burk) इस अकृत्रिम भारतबन्धु का नाम (आज-कल

बता सकेंगे। देखना हूँ कि क़ानून का बनाना और बिगाड़ना उन्हीं के हाथ का खेल है। क़ानून की किताब के पन्ने उलटते ही आप यह देखेंगे कि (क) (ख) (ग) इसी तरह से क़ानून की धारायें सजाई हुई हैं, और (क) (ख) (ग) इसी तरह से खर्च के भी अङ्क दिये गये हैं। इस तरह के जघन्य नीच कर्म के लिए ब्रह्म से अभिन्न (मीमांसा दर्शन के मत से शब्द ब्रह्म है) हम सब को पकड़कर कुली का सा काम लेना भला कहाँ की भलमनसाहत है? इन सब कार्य्यों के लिए तो गणित की संख्यायें ही बनी हैं। उस नम्बरवाली पुलिस की पलटन के रहते हुए भी निरर्थक भले आदमियों के लड़कों को पकड़ कर स्पेशल कान्स्टेबिल (Special constable) क्यों बनाया जाता है?

देखा-देखी दर्शन-शास्त्र तथा तर्क-शास्त्र के महारथी भी हम सब को पकड़कर अपनी युक्तियों, प्रमा, उपपत्ति, प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, तथा निगम आदि के सजाने में सहायता ले रहे हैं। इसकी जरूरत उन्हें क्यों पड़ी? सनातन प्रथा के अनुसार 'प्रथमतः,' 'द्वितीयतः' आदि का प्रयोग करने में क्या उन्हें किसी प्रकार का डर लगता है?

दूसरे नम्बर के अभियुक्त हैं ज्यामिति, त्रिकोणमिति के रचयिता। उन लोगों के वृत्त, वृत्ताभास, त्रिभुज, बहुभुज आदि अष्टावक्र मूर्तियों को छाती पर लादने के ही लिए हमारी पुकार होती है। हम सब मानो रेखागणित की बासी राख फेंकने के

लिए टुटहे सूप हैं। इस कार्य्य के लिए अपनी जाति बिरादरी को अङ्कगणित के घर से न बुलाकर साहित्य के घर में डकैती करने क्यों आते हैं, इसकी क्या किसी तरह की जवाबदेही की ज़रूरत नहीं है? आज-कल अन्त्येष्टि के समय आत्मीय-स्वजन कन्धा देना नहीं चाहते, इससे किराये के आदमी बुलाकर काम निकालना पड़ता है। क्या इस कार्य्य के लिए भी अपने कुटुम्ब अङ्कगणित की संख्याओं की पीठ पर हाथ न रखकर हम सबको धर घसीटते हैं? बहुत से लोग ऐसे शौक़ीन होते हैं कि मैली हो जाने के भय से अपनी चीज़ों को ताख़ पर रख छोड़ते हैं और दूसरों की चीज़ों से काम निकालते हैं। इस तरह स्वयं अपनी चीज़ों को वे झाड़-पोंछ कर ख़ूब दुरुस्त रखते हैं। हमारी दृष्टि में रेखागणित का भी यह कार्य्य बिलकुल इसी ढंग का है। या यह भी हो सकता है कि हम सब को लाकर वे साहित्यचर्चा का मान किया करते हैं, इस प्रकार वे पाठकों के मन में एक प्रकार का भ्रम उत्पन्न करने की चेष्टा करते हैं कि हम सब भी साहित्यिक हैं। दारजिलिंग में लकड़ी के मकान इस ढंग से बने होते हैं कि वे ईंट के से मालूम पड़ते हैं। तो क्या इस क्षेत्र में भी शुष्क काष्ठ के समान नीरस (Wooden) गणित-शास्त्र को साहित्य का सा रूप देकर भ्रम उत्पन्न करने की चाल खेली गई है? यदि ऐसी बात है, तब तो यह बहुत ही घोर प्रतारणा (Cheating) या छद्मवेश धारण करके वञ्चना करना (False personation) है।

इधर कुछ महा-पण्डितों ने अपनी प्रगाढ़ गवेषणा का परिचय देते समय परिशिष्ट में चिह्न के रूप में हम सब का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया है। शायद उन लोगों ने अक्षर-ज्ञान का परिचय देने के लिए ही तो नहीं इस परिपाटी का अवलम्बन किया है? (क्योंकि दुष्ट लोग तो इस विषय में भी संदेह कर बैठते हैं।)

हमारी नालिश की तीसरी दफ़ा यह है कि तरह-तरह के स्वाभाविक एवं कृत्रिम उपायों से हमारी संख्या का उत्तरोत्तर ह्रास हुआ जा रहा है। जिस समय सत्त्व-प्रधान आर्य्यों ने स्मरणातीत-काल में यथा-स्थान समीरित स्वर-समूह का उच्चारण करके भारती एवं भारत को चरितार्थ किया था, उस समय के दो चार अक्षर आज-दिन नष्ट होगये हैं, इसका हमें क्षोभ नहीं है। समय के फेर से इस तरह के क्षय, इस तरह की काट-छाँट का होना प्रकृति का नियम है। योग्यतम का उद्वर्त्तन तथा प्राकृतिक-निर्वाचन आदि वैज्ञानिक-तत्त्व विज्ञानवेत्ताओं के पाण्डित्य-पूर्ण निवन्धों के कारण हमें अविदित नहीं हैं। किन्तु विद्या-दिग्गज लोग जो कृत्रिम निर्वाचन-प्रणाली का अवलम्बन करके हमारी संख्या का ह्रास करने के लिए प्रयत्नशील हैं वे हमारी आन्तरिक अशान्ति के कारण बन वैठे हैं। जिन्हें ह्रस्व-दीर्घ का ज्ञान नहीं है, वे लोग ह्रस्व, दीर्घ के भेद से पृथक्-पृथक् स्वरवर्ण नहीं चाहते। जिनकी श्रवण-शक्ति कुछ मन्द है, वे लोग व और व, श, ष और स, य और ज का भेद भाव नहीं क़ायम रखना

चाहते। गृहस्थ के अन्नयज्ञ में चौंसठ व्यञ्जन आज दिन दाल-तरकारी में ही समाप्त हो जाते हैं, इधर व्यञ्जनों की संख्या में ह्रास होने की आशङ्का उसी तरह से अत्यन्त प्रबल है। दुःख का विषय है कि इस दुर्दशा के समय कोई हमारा होकर 'A dying Race' या 'मरणोन्मुख जाति' के शीर्षक से निबन्ध या विलाप-काव्य नहीं लिखता। जिस तरह हिन्दुओं की संख्या का ह्रास होता जा रहा है, किन्तु उसकी वृद्धि के लिए किसी उपाय का अवलम्बन नहीं किया जा रहा है, उसी तरह क्या हमारी भी दशा शोचनीय नहीं है? अतएव इस सङ्कट में हम अदालत की शरण लेने के लिए वाध्य हैं।

हमारी चौथी दफ़ा नालिश है, हम सब को तरह-तरह से रूपान्तरित एवं विकृत करके हमारी विशुद्धता नष्ट करने की चेष्टा। यह चेष्टा इधर अर्से से ज़ोरों के साथ चल रही है। यह प्रयत्न adulteration के अन्तर्गत माना जा सकता है या नहीं, इसे क़ानून के विचक्षण विद्वानों को छोड़कर और कोई बतला ही कैसे सकता है? अक्षरों की मिलावट करते समय हम सब का तरह-तरह का अद्भुत परिवर्तन कर दिया जाता है। तब के लिपिकारों (Transcribers) का उपद्रव छापाख़ानों की बदौलत बहुत कुछ निवारित हो चुका है, परन्तु अदालत के दस्तावेज़ों तथा अन्य हस्तलिखित काग़ज़ों में इसका प्रकोप देखने में आता है। कभी-कभी तो इस सम्बन्ध में घोर विडम्बना की सृष्टि हो जाती है। दो एक उदार प्रकृति के व्यक्तियों ने दो एक तरह

के सुधार की सूचना दी है, इसके लिए हम अवश्य कृतज्ञ हैं, एक कवि कदाकार और प्रयत्नसाध्य 'ङ्क' को उठाकर स्थान-स्थान पर पञ्चम वर्ण के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग करना चाहते हैं। एक अन्य 'सुविज्ञ' सज्जन ने भी अन्य कितने ही रूपान्तरों को वर्जित करने की प्रणाली का उद्भावन किया है। अपने इस प्रयत्न से वे लोग लेखकों, पाठकों, टाइपफाउंड्री और और कम्पोज़िटरों का भार लघु कर देने को प्रवृत्त हुए हैं। परन्तु हम सब तो इससे भी कहीं अधिक सुदूरगामी संस्कार के लिए प्रार्थी हैं। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि समस्त संयुक्त वर्णों को ही उठा देना होगा, नहीं तो वर्णसंकर का निवारण नितान्त ही असाध्य होजायगा। एक साहब ने कहा है कि साहब लोगों की उक्ति मात्र ही वेदवाक्य है। मनुष्य मनुष्य का बोझा ढोवे और अक्षर अक्षर का बोझा ढोवे, यह इस ग़ुलाम देश में ही सम्भव है। बात बड़ी पक्की है। इस स्वाधीनता, इस साम्य और मैत्री के युग में, इस प्रजातन्त्र (Democracy) के समय, इस स्वराज्य के बाज़ार में, इस तरह की प्रथा नितान्त ही गर्हित है। अतएव आप लोग कम से कम यह नियम करदें कि कोई अक्षर किसी अक्षर के नीचे या ऊपर न हो। कोई ऊपर, कोई नीचे और कोई अगल बगल जब सटकर बैठता है, तब इस तरह बैठने में, आपस की रगड़-झगड़ में, थोड़ा-बहुत सभी का हाथ-पैर टूट जाता है। सभी वर्ण पास-पास जब स्वाधीन भाव से बैठ सकेंगे, तभी वे पूर्ण परिणति उपलब्ध

कर सकेंगे। स्वर-वर्ण (हिन्दू स्त्री के समान) अपनी स्वाधीनता खोकर व्यञ्जन वर्णों के साथ उनके अङ्ग से अङ्ग मिलाकर रेखामात्र में पर्य्यवसित होगये हैं। बेचारे 'अ' का तो एकदम से अस्तित्व का चिह्न तक नहीं रहता। (क्या इसीलिए इसे लुप्ताकार कहते हैं?) वायु जिस तरह सर्वत्र बहता रहता है, उसी तरह अकार भी समस्त व्यञ्जनों में (लवण के समान रहता है) साथ ही वह स्पष्ट नहीं होता। परन्तु आजकल के दिन में इस तरह छिपकर रहना सन्देहजनक माना जाता है। जिस तरह विवाह दासत्व या दासीत्व नहीं बल्कि Civil contract भर है। (अर्द्धाङ्गिनी, अर्द्धनारीश्वर आदि शब्द कवियों की कल्पना से ही उत्पन्न हुए हैं।) इस प्रकार युक्ताक्षर के समय भी दोनों ही के स्वातन्त्र्य की रक्षा करके दोनों को पास-पास स्थान देना ही अधिक सुन्दर है। जितनी भी सभ्य जातियाँ हैं उन सभी में इसी तरह का नियम है। अदालत के लिए यह भी स्मरण रखने की बात है कि जो कुछ अँगरेज़ी प्रथा के अनुकूल है, वही उत्कृष्ट है। राजभक्ति के हिसाब से भी आजकल के बाज़ार में इसकी आवश्यकता है। इस प्रस्ताव के स्वीकृत होने पर केवल हमारा ही उपकार होगा, यह बात नहीं है। मानव-शिशुगण भी युक्ताक्षर के सीखने के झंझट से बचेंगे और गृहलक्ष्मियों का प्रेम-पत्र लिखने का भी मार्ग निष्कण्टक हो जायगा। इस प्रस्ताव के अनुकूल स्वरलिपि के समान एक पंक्ति लिखे देता हूँ—

श् र् ई श् र् ई द् उ र् ग् आ—श्री-श्री दुर्गा।

इति